मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 20 ● वर्ष 3 अंक 1 ● मार्च 2013 ● पाँच रुपये ● सोलह पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

चुनावी तैयारियों के बीच बजट का खेल

जनता की माला जपते हुए सेठों-लुटेरों की सेवा

पूँजीवादी नीतियों के कारण ख़स्ताहाल अर्थव्यवस्था का बोझ ढोती रहेगी मेहनतकश जनता

● सम्पादकीय अग्रलेख

जैसी कि उम्मीद थी, अगले आम चुनाव से पहले यूपीए सरकार के आख़िरी बजट में सबको खुश करने और जनता को बड़े झटके न देने की भरपूर क़वायद की गयी है। लेकिन पिछले दो दशक से जारी उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों ने अर्थव्यवस्था की हालत ऐसी कर दी है कि चाहकर भी वित्तमंत्री चिदम्बरम कुछ ख़ास लोकलुभावन प्रावधान नहीं कर पाये हैं। उल्टे, देशी-विदेशी पूँजीपतियों को खुश करने और उनका भरोसा जीतने के लिए काफ़ी मशक्कत की गयी है। वैसे तो, डीज़ल के दामों में बढ़ोत्तरी बजट से कुछ दिन पहले ही कर दी गयी थी, लेकिन बजट में भी ऐसे इन्तज़ाम किये गये हैं जिनका ख़ामियाज़ा जनता आने वाले कई सालों तक भरती रहेगी।

बजट में वित्त मंत्री ने समावेशी विकास और महिलाओं, युवाओं, ग़रीबों, दलितों, आदिवासियों, पिछड़ों, अल्पसंख्यकों आदि के हितों के बारे में बड़ी-बड़ी बातें भले की हैं लेकिन वास्तव मेंयह बजट पूरी तरह से बड़े पूँजीवादी घरानों औरविदेशी वित्तीय पूँजी के हितों को समर्पित है।बजट में विदेशी वित्तीय पूँजी को खुश करने के लिए उसे पहले से भी अधिक रियायतें दी गयी हैं और उसकी सबसे बड़ी माँग राजकोषीय घाटे को कम करने को पूरा करने के लिए सब्सिडी से लेकर योजना बजट में भारी कटौतियाँ की गयी हैं।सब्सिडी में कटौती का मतलब है तेल, गैस, बिजली, खाद आदि के दामों में लगातार बढ़ोत्तरी। इसकी शुरुआत तो अभी से हो गयी है लेकिन आने वाले समय में कई राज्यों में विधानसभा चुनाव और फिर दिल्ली की गद्दी के लिए होने वाले चुनावों को देखते हुए सरकार अभी इसके अपेक्षाकृत थोड़े-थोड़े डोज़ दे रही है। यह तय है कि नयी सरकार चाहे जिसकी भी बने, उसे जनता की गर्दन में दाँत गड़ाकर ड्रैकुला की तरह ख़ून पीना ही पड़ेगा। चिदम्बरम ने अगले वर्ष के बजट में प्रमुख सब्सिडियों जैसे पेट्रोलियम उत्पादों, उर्वरक और खाद्य के बजट में लगभग 26884 करोड़ रुपये की कटौती कर दी है। चालू वित्तीय वर्ष 2012-13 में इन तीनों मदों पर कुल सब्सिडी 247853 करोड़ रुपये थी जिसे अगले वर्ष घटाकर 220971 करोड़ रुपये कर दिया गया है। इसमें सबसे ज्यादा कटौती पेट्रोलियम सब्सिडी में की गई है जिसमें चालू वर्ष की तुलना में 31879 करोड़ रुपये की कटौती करते हुए 96879 करोड़ रुपये से घटाकर मात्र 65000 करोड़ रुपये कर दिया गया है। इसका सीधा सा अर्थ यह है कि अगले साल भी पेट्रोलियम उत्पादों खासकर पेट्रोल, डीजल और रसोई गैस की कीमतें बढ़ती रहेंगी।योजना बजट में कटौती का भी सीधा असर आम लोगों को मिलने वाले लाभ और रोज़गार के सृजन पर पड़ेगा।

2008 में विश्वव्यापी मन्दी के समय से ही भारतीय शासक दावा करते रहे हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था की हालत पर मन्दी का ज़्यादा असर नहीं पड़ेगा और चिन्ता की कोई बात नहीं है। लेकिन उदारीकरण-निजीकरण की जो नीतियाँ पिछले दो दशकों के दौरान अन्धाधुन्ध लागू की गयी हैं, उनके चलते दुनियाभर में गहराते आर्थिक संकट की चपेट में आने से भारतीय अर्थव्यवस्था बची रह ही नहीं सकती थी। और अब इस सच्चाई को भारतीय शासक भी स्वीकारने लगे हैं।भारत सरकार के

(पेज 14 पर जारी)

मारुति सुज़ुकी मज़दूर आन्दोलन के इस निर्णायक चरण में आगे बढ़ने के लिए भीतर मौजूद विजातीय रुझानों और विघटनकारी ताक़तों से छुटकारा पाना होगा

● अभिनव

पिछले अंक में हमने लिखा था कि मारुति सुज़ुकी मज़दूरों का शानदार संघर्ष एक नाज़ुक मोड़ पर खड़ा है। इस समय या तो मारुति सुज़ुकी वर्कर्स यूनियन अपनी ताक़त पर भरोसा करते हुए इस संघर्ष को एक अगले चरण में ले जा सकती है, जो कि हमारी राय में एक जगह डेरा डालकर प्रदर्शन शुरू करने के रूप में ही सम्भव है, या फिर यह आन्दोलन अब समाप्ति की ओर आगे बढ़ेगा। दूसरी बात जो हमने पिछले मारुति सुज़ुकी मज़दूर संघर्ष के अपडेट में कही थी वह यह थी कि रोहतक के प्रदर्शन के बाद भूपिन्दर हुड्डा की सरकार ने मारुति सुज़ुकी वर्कर्स यूनियन के प्रतिनिधि मण्डल से मिलने के लिए जो समय दिया था, उसे 13 फरवरी से बढ़ाकर 21 फरवरी कर दिया था। मिलने का समय आगे करने के पीछे हुड्डा सरकार की रणनीति यह थी कि मज़दूरों को इन्तज़ार करा-करा कर थका दिया जाय।हमने पिछले अंक में लिखा था कि 21 तारीख़ को अगर हुड्डा मुलाकात करता भी है, तो वह कम्पनी और प्रबन्धन के पक्ष में ही बोलेगा और ज़्यादा सम्भावना इस बात की है कि मारुति मज़दूरों की कोई माँग मानने की बजाय वह धमकाने और डराने की कोशिश करेगा। हमारी यह चेतावनी वास्तविक घटनाओं ने शब्दश: सही सिद्ध की है। हमने पिछले अंक में अपनी राय रखते हुए कहा था कि अब मारुति सुज़ुकी मज़दूर आन्दोलन में निर्णायक क़दम, यानी कि एक जगह डेरा डालकर अनशन शुरू करके उसे ज़रूरत पड़ने पर मज़दूर सत्याग्रह तक ले जाने का क़दम, उठाने का वक्त आ गया है, बल्कि यह कहना चाहिए कि इस क़दम को उठाने में अब नेतृत्व ख़तरनाक देरी कर रहा है।क़ायदे से एक जगह पर डेरा डालकर अपनी माँगों को लेकर अनशन करने का क़दम 9 दिसम्बर को दिल्ली में हुए ऑटो वर्कर्स सम्मेलन के बाद ही सरकार को और कम्पनी को आख़िरी अल्टीमेटम देकर उठा लिया जाना चाहिए था। इसका कारण यह है कि उस समय मज़दूरों का जोश बुलन्दी पर था और उस समय ही अगर निर्णायक क़दम उठाया जाता तो वह ज़्यादा प्रभावी सिद्ध हुआ होता।

निर्णायक संघर्ष के फ़ैसले पर सभी आन्दोलनरत साथियों को बधाई और साथ ही कुछ ज़रूरी सवाल...

'बिगुल मज़दूर दस्ता' लगातार अपने सुझाव यूनियन की नेतृत्वकारी समिति को पहुँचाता रहा है और यह सुझाव देता रहा है कि अब यूनियन स्वयं अपनी ताक़त पर भरोसा करे और एक जगह डेरा डालकर बैठने के लिए सभी आन्दोलनरत साथियों का आह्वान करे। 21 फरवरी को हुड्डा से वार्ता असफल होने का बाद अब एम.एस.डब्ल्यू.यू. के नेतृत्व के साथी भी इस नतीजे पर पहुँच चुके हैं। हम यूनियन

(पेज 6 पर जारी)

इलाज के नाम पर लोगों की जान से खेल रही हैं दवा कम्पनियाँ 10
पेरिस कम्यून की महान शिक्षाएँ 8
अफ़ज़ल गुरू को फाँसी : बुर्जुआ "राष्ट्र" के सामूहिक अन्तःकरण की तुष्टि के लिए न्याय को तिलांजलि 12
भारत की 'सिलिकन घाटी' की चमक-दमक की ख़ातिर उजड़ा मेहनतकशों का आशियाना 16

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

देशव्यापी हड़ताल किसके लिए?

20-21 फरवरी 2013 दो दिवसीय देशव्यापी अनुष्ठानिक हड़ताल कुल 11 बड़ी ट्रेड यूनियनों ने मिलकर की जिससे बहुत मजदूर भ्रम में पड़ गये कि ये यूनियन वाले हमारे हितैषी हैं और हमारा साथ दे रहे हैं। वर्षो से पल रहा गुस्सा निकल पड़ा जिससे कई जगह तोड़फोड़ और आगजनी की घटनाऐं हुई। मगर उन मजदूरों को ये शंका भी न हुई कि ये हमारे वर्ग के गद्दार और आस्तीन के सांप है। जिनका यह काम ही है। कि हर साल ऐसे एक-दो अनुष्ठान करते रहो। जिससे की दुकानदारी चलती रहे। और मजदूर भ्रम में बने रहें। कि उनकी बात भी कहने वाले कुछ लोग है। हड़ताल वाले दिन नोएडा में तोड़फोड़ हुई। जिसकी सजा तुरन्त मजदूरों को मिली और अभी तक 150 से भी ज्यादा मजदूर जेल में है। मगर जिन बड़ी ट्रेड यूनियनों ने मिलकर ये अनुष्ठान सम्पन्न किया। उन्हीं में से एक ट्रेड यूनियन (एटक) के नेता और सांसद गुरूदास दासगुप्ता ने पुलिस से माँफी माँगी कि इस हिंसा में यूनियन की कोई गलती नहीं है। मैं गुड़गांव में था। गुड़गांव में सामान्य व्यवस्था बरकरार रही। जैसे मजदूर रोज फैक्टरी जाते थे वैसे 20 और 21 को गए। आम मेहनतकशों पर कोई खास असर न था। हड़ताल के दौरान दोनों दिन हीरो मोटो कार्प बन्द रही। क्योंकि पिछले सात महीनों से हीरो के स्थाई मजदूर वेतन वृद्धि की मांग कर रहे है। जिसके चलते दो महीने से हाथ पर काली पट्टी बाँधकर विरोध प्रदर्शन कर रहे थे। अभी 28 फरवरी से यूनियन के पांच मुख्य पदधिकारी आमरण अनशन पर चले गए है। और मैनेजमेण्ट से अभी तक करीब 60 बैठक भी हो चुकी है 20 व 21फरवरी को मारुति सुजुकी के गुड़गांव व मानेसर प्लांट भी बन्द रहे। क्योंकि जुलाई 2012 में मारुति मानेसर प्लांट में हिंसा भड़की थी। और आज भी करीब 25 सौ मजदूर सड़क पर है। जिसमें स्थाई मजदूर आज भी संघर्षरत है। इसी आटो बेल्ट से जुड़ी हेमा इन्जीनियरिंग, आटोपिट, रिको जैसी कई कम्पनियाँ जो हीरो व मारुति को माल सप्लाई करती है उसमें एक या आधे दिन की छुट्टी मुर्करर हुई। जिसमें बहुतों को तो उस छुट्टी की भरपाई रविवार को काम कर के करनी पड़ी। जबकि कुछ फैक्टरी में नोएडा की हिंसा के बाद मालिकों ने डर कर 21 फरवरी को फैक्टरी बन्द ररखी। बाकी पूरे गुड़गांव के उद्योग विहार के गरमेन्ट मजदूरों से लेकर मानेसर के आटो मजदूरों तक का जनजीवन अपनी सामान्य गति पर था। और अब यह बात दिन के उजाले की तरह साफ है कि इस दो दिवसीय हड़ताल से मजदूर वर्ग को कुछ भी हासिल नहीं हुआ। और ये दावा है कि ऐसे अनुष्ठानों से कुछ हासिल भी न होगा। क्योंकि ये पहली आम हड़ताल नहीं थी बल्कि 1990 के दशक से अब तक का 15वां ''देशव्यापी बन्द'' था। और कहा जाए तो इससे मजदूर वर्ग को नुकसान के सिवा और कुछ नहीं मिलता क्योंकि ऐसी दो दिवसीय नौंटकी के बाद मजदूर यह दलील देने लगते है कि हुई तो थी हड़ताल, क्या हो गया उससे?

आनन्द, गुड़गांव

घोषणापत्र का प्रपत्र : प्रपत्र 4
(नियम 8 के अन्तर्गत)

समाचार पत्र का नाम	मज़दूर बिगुल
पत्र की भाषा	हिन्दी
आवर्तिता	मासिक
पत्र का खुदरा बिक्री मूल्य	पाँच रुपये
प्रकाशक का नाम	कात्यायनी सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
प्रकाशन का स्थान	निशातगंज, लखनऊ
मुद्रक का नाम	कात्यायनी सिन्हा
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ
मुद्रणालय का नाम	मल्टीमीडियम, 310, संजयगांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ-226016
सम्पादक का नाम	सुखविन्दर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज लखनऊ-226006
स्वामी का नाम	कात्यायनी सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय

मैं कात्यायनी सिन्हा, यह घोषणा करती हूँ कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य हैं।

हस्ताक्षर
(कात्यायनी सिन्हा)
प्रकाशक, मुद्रक, स्वामी

मज़दूर बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

क्या आपने ये बिगुल पुस्तिकाएँ पढ़ी हैं?

चोर, भ्रष्ट और विलासी नेताशाही
भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र की एक नंगी और गन्दी तस्वीर
रु. 3.00

बोलते आँकड़े, चीख़ती सच्चाइयाँ
नवउदारवादी अर्थनीति के 18 वर्ष – भारत की तरक्की के दावों के ढोल की पोल – समृद्धि के तलघर में नर्क का अँधेरा
रु. 3.00

राजधानी के मेहनतकश : एक अध्ययन
– अभिनव
रु. 15.00

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?
– अभिनव
रु. 15.00

नेपाली क्रान्ति : इतिहास, वर्तमान परिस्थिति और आगे के रास्ते से जुड़ी कुछ बातें, कुछ विचार
– आलोक रंजन
रु. 55.00

मज़दूर बिगुल की नयी वेबसाइट आप यहाँ देख सकते हैं:
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक के 'बिगुल' और 'मज़दूर बिगुल' के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की महत्वपूर्ण सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं।

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।"
– लेनिन

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता। बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये। सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर बिगुल 'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :

- डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन : 0522-2786782
- जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे)
- 114, जनता मार्केट, रेलवे स्टेशन रोड, गोरखपुर-273001
- जनचेतना, दिल्ली – फ़ोन : 09910462009
- जनचेतना, लुधियाना – फोन : 09815587807

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन : 0522-2335237
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigul@rediffmail.com
मूल्य	: एक प्रति – रु. 5/- वार्षिक – रु. 70/- (डाक खर्च सहित) आजीवन - रु. 2000/-

कारख़ाना इलाक़ों से

पूँजी की ताकत के आगे हड़ताल के लिए जरूरी है वर्ग एकजुटता!

हड़ताल मजदूर वर्ग का एक ऐसा जबर्दस्त हथियार जिसकी ताकत के दम पर मालिक वर्ग को अपनी व्याहारिक माँगों को पूरा करने के लिए घुटने टेकने को मजबूर कर देता है। मगर 1990 के दशक से जारी निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों के साथ-साथ मालिक वर्ग ने ऐसे एक खास तरीके की रणनीति तैयार की है जिससे कि किसी एक फैक्टरी में हड़ताल होने से उनकी सेहत पर कोई खास फर्क नहीं पड़ता । वो तरीका है एक बड़े कारखाने को सौ छोटे कारखानों में बाँट देना । ऐसी ही एक फैक्टरी हड़ताल की घटना हमारे सामने है जो हड़ताल के बारे में कुछ जरूरी सबक देती हैं।

घटना- 28 फरवरी 2013 को ओरिएण्ट क्राफ्ट प्लांट नम्बर 3, 5 सेक्टर 37 हीरो होण्डा चौक गुड़गांव में 11 बजे के आसपास होजरी के एक खास पीस के रेट को लेकर कारीगर और ठेकेदार में बहस हो गई। कारीगर का कहना था कि इस पीस का रेट 1.25 रु0 लेंगे। ठेकेदार 80पैसे देने को तैयार था। मगर ठेकेदार एक रुपये से ज्यादा देने को तैयार न हुआ। जिससे की कारीगरों की तीन लाइनों ने काम का बहिष्कार किया। ध्यान दें इस पूरे प्लांट में पीस रेट के करीब 1800 कारीगर हैं जो सात ठेकेदारों के माध्यम से काम पाते है। तीन लाइनों के कारीगरों के काम छोड़ने के पश्चात तीन दाँय व तीन बाँय हाथ की लाइन के कारीगरों ने भी काम छोड़ दिया। और 2बजे तक प्लाट नम्बर 3, 5 के तीनों डिपोर्ट के कारीगरों ने काम छोड़ दिया। और एक आम राय बन गई की पीस का रेट बढ़ाया जाए। क्योंकि यहाँ पर रेट साधारण पीस रेट 60 पैसे की दर से मिलता था। इसलिए उनकी माँग थी कि अब उसका रेट 80 पैसे किया जाए। ध्यान दें कारीगरों ने 20 पैसे 1 पीस पर बढ़ाने की ठोस माँग ठेकेदारों के सामने रखी। शाम 4 बजे तक यह माँग के ओरिएण्ट क्राफ्ट की अन्य दो कम्पनी प्लांट नम्बर 9,13 सेक्टर 37 व प्लांट नम्बर 7 पी सेक्टर 34 के मजदूरों तक पहुच गई। और इस मांग के समर्थन में उन्होंने भी काम छोड़ दिया। और शाम साढ़े चार बजे तक इस बहिष्कार ने हड़ताल का रूप ले लिया।

हिस्से में बांटी फैक्टरी- कम्पनी के अन्दर पीस रेट के कारीगरों के काम परिस्थिति कुछ इस प्रकार है। पीस रेट के कारीगरों को सीधे मालिक से कोई वास्ता न रहे इसलिए मालिक कारीगारों को ठेकेदार के माध्यम से भर्ती करती है। प्लांट नम्बर 7 पी में एक ठेकेदार है। जिसके नीचे करबी 450 कारीगर है। प्लाट नम्बर 3, 5 में 7 ठेकेदार है। जिसके नीच 1800 सौ कारीगर है। प्लांट नम्बर 9, 13 में आधे कारीगर कम्पनी कम्पनी की तरफ से है। और आधे पीस रेट पर ओरिएण्ट क्राफ्ट की शाखाँए और भी है। 9 पी व 9 ए इसके अलावा और भी मगर उनकी जानकारी नहीं है।

प्लांट नम्बर 7पी में 13 लाइन है। जिनमें करीब 450 कारीगर काम करते हैं। हर लाइन के कारीगरों ने अपना ग्रुप लीडर चुन रखा है। जो कि ठेकेदार से काम लाए, रेट तय करना, भुगतान करना व कागज सम्बन्धों अन्य कामों के लिए। जिसके लिए सभी कारीगर मिलकर अपने हिस्से से बराबर का हिस्सा देते है। इसके अतिरिक्त टीम लीडर जो काम करता है वो उसकी अतिरिक्त कमाई होती है। इसके संगठन का मुख्य आधार यही है। इसके अलावा इनका कोई आपसी संगठन या किसी ट्रेड यूनियन से कोई वास्ता नहीं है।

संघर्ष का रूप-इस हड़ताल में मजदूर ने संघर्ष को किसी योजनाबद्ध तरीके से नहीं चलाया। बस 28 फरवरी शाम 4 बजे अघोषित रूप से हड़ताल कर दी। सभी कारीगर घर चले गए। 2मार्च तक काम नहीं शुरू हुआ, और मजदूर पीस रेट के 20पैसा बढ़ाने की माँग पर अड़े रहे। फिर 4 मार्च को प्लांट नम्बर 3,5 में मालिक सुधीर ढींगरा ने आकर खुले रूप से कह दिया कि कोई रेट नहीं बढ़ेगा। जिसको काम करने करे नहीं तो अपना हिसाब लेकर घर जाए। हड़ताल का संगठित रूप न था। सभी कारीगरों के व्यक्तिगत विचार थे कि रेट बढ़ना चाहिए। ऐसे में कोई नेतृत्व न हो, कोई मीटिंग न हो, कोई सभा नहीं बस यही भावना काम कर रही थी। वे काम शुरू हो जाऐगा तो हम भी शुरू कर देंगे।

आखिर 5 मार्च तक मालिक ने सभ कारीगरों को फुल एण्ड फाइनल हिसाब दे दिया। और मजदूरों को नसीहत दी कि काम करना हो तो कल आकर मशीन चलाने लगना। 6 मार्च को करीब 20 प्रतिशत कारीगरों को फोन द्वारा वापस बुलाना जारी है।

निष्कर्ष- साफ है ये हड़ताल मजदूरों के लिए कुछ जरूरी सबक छोड़ गई कि बिना यूनियन और सही नेतृत्व के मजदूरों का संघर्ष ज्यादा लम्बा नहीं चल सकता । दूसरा अलग-अलग प्लांट के नाम पर बांट मजदूरों की एकजुटता कायम करने के लिए सचेतना प्रयास करने चाहिए क्योंकि हड़ताल मजदूर संघर्ष का मुख्य हथियार हैं ऐसे में हमें गरमेन्ट सेक्टर के सभी मजदूरों को एक साथ लेकर लम्बी लड़ाई की तैयारी करनी चाहिए। क्योंकि हमारी काम की परिस्थितियों एक है हमारी मांग साझा हैं इसलिए हमें संघर्ष के लिए भी पेशगत और इलाकाई यूनियन बनानी चाहिये। न तो ऐसी हड़ताल में हमें सिर्फ हार ही मिलेगी।

– बिगुल संवाददाता

समयपुर, लिबासपुर का लेबर चौक

बाहरी दिल्ली के उत्तरी भाग में समयपुर इलाका पड़ता है दिल्ली-42 में स्थित समयपुर व लिबासपुर में दो लेबर चौक (मजदूर अड्डा) भी है। जो कि घोषित तौर पर कोई सरकारी कागज में लेबर चौक जैसा कुछ भी नहीं है। यहाँ भी भौगोलिक परिस्थिति ये है। कि ये समयपुर इलाके की तंग व व्यस्त सड़क है। जो कि जी.टी करनाल रोड़ से सीधा बादली स्टेशन तक जाती है। इस चौक पर परचून, मेडिकल ,बैण्ड मास्टर आदि दुकानें पर्याप्त मात्रा में है। इस तंग व व्यस्त सड़क पर मजदूर भी रोजगार पाने की उम्मीद में भारी संख्या में बैठते है। इस चौक को छोटी लेबर चौक बोलते है। और यहाँ पर सुबह 9 बजे करीब 200 मजदूर प्रतिदिन आराम से पाये जाते है। लेबर चौक की कोई जगह न होने के कारण मजदूरों को आए दिन वहाँ के दुकानदारों से गालियाँ सुननी पड़ती है। आए दिन एक-आद मजदूरों को पीटना व उनके ऊपर पानी फेंक देना जो जैसे इन्होंने पेशा ही बना लिया। मजदूरों में भी आपसी कोई एकता नहीं है। इसलिए इन लोकल साँडो का कोई विरोध नहीं कर पाता कोई पार्टी(काम) आती है। तो सारे मजदूर पार्टी को घेर लेते है। जिससे कि 5-10 मिनट के लिए कभी-कभी पूरी रोड़ ही जाम हो जाती है। पार्टियों भी जब अपने-आप को मजदूरों से घिरा हुआ पाती है। तो मनमाने तरीके से मजदूरों को कम कीमत पर ले जाती है। अरे एक बार तो फैक्टरी मालिक मजदूर को तय करके ले गया कि शाम साढ़े पांच बजे तक का काम 1 घण्टा लन्च का 250 रु. दिहाड़ी के हिसाब से । काम करवाने के बाद बोला 7बजे तक काम करेगा तभी रुपये मिलेंगे। और गाली-गलौच किया। इतने पर मजदूर ने काम छोड़ दिया। और कहा चौक पर आओगे तब बताऐगे। इतने पर मालिकों ने गाली देते हुए। दो-चार झापड़ लगा दिए। और बोला कल आऊगा लेबर लेने तेरी जो औकात हो उखाड़ लेना। मजदूर को चुपचाप मारखाकर आना पड़ा। अगले दिन उसने कई मजदूरों को बताया मगर किसी ने साथ ना दिया। और कोई आश्वासन भी न दिया खाली विलाप ही किया कि क्या कर सकते हो भैया।

घटनाए और भी बहुत सारी है। मगर समस्या का दुखड़ा रोने से कुछ नहीं होता। मुख्य जड़ तो यही है। कि जब तक हम अपनी ताकत को नहीं पहचानते तब तक कुछ नहीं कर पाएंगे। एक आदमी आऐगा और दो सौ लोगों के बीच किसी में किसी एक मजदूर भाई को पीटकर चला जाऐगा।

ये तो छोटी लेबर चौर की छोटी कहानी है। यही से 500 मीटर की दूरी पर लिबासपुर में बड़ी लेबर चौक है। यहाँ पर तो सड़क व्यस्त है। मगर गलियाँ तंग नहीं है। आसपास में सड़क के किनारे डी.डी.ए के खाली प्लाट पड़े हुए है। और ट्रास्पोर्ट के टैम्पो व टाटा 407 की गाड़ियों का स्टैण्ट भी है। पन्चर की बड़ी दुकान है। सार्वजनिक शौचालय है। व उठने-बैठने के लिए छावदार जगह भी है। मगर ये भी कोई घोषित चौक नहीं है। और यहाँ भी मजदूर बड़ी संख्या में मिलते है। यहाँ सुबह 9बजे करीब 600-700 सौ मजदूर मिलते है। छोटी चौक पर तब भी थोड़े शरीफ लोग आते है मगर यहाँ तो छँटे हुए गुण्डे ठेकेदार व कमीने मालिक अपनी बड़ी-बड़ी गाड़ियों से लेबर लेने आते है। मजदूरों के साथ जो परिस्थितियाँ छोटी चौक पर है। उससे भी भंयकर परिस्थितियाँ यहाँ पर वजह सिर्फ वही है। कि आपस में कोई एकता नहीं है। जिससे रोज गाली गलौच व मार, डांट सब सहना पड़ता है। और अपनी मेहनत की पूरी मजदूरी भी नहीं मांग पाते है।

रामाधार, बादली

एक मेहनतकश औरत की कहानी...

पूजा दिमागी रुप से विचलन, एकदम शान्त रहती है। देखने में ऐसा लगता है, जैसे कोई बेजाने हड्डी माँस का पुतला खड़ा हो। इस पूँजी की व्यवस्था में बिना पूँजी के लोगों की ऐसी ही हालत हो जाती है। जैसे अभी पूजा की है। एकदम बेजान, चेहरा एकदम सूखा हुआ। 28 साल की उम्र में उसको स्वस्थ्य और सेहतमन्द होना चाहिए था। मगर इस उम्र में जिन्दगी का पहाड़ ढो रही है। और दिमागी रुप से असुन्तिल हो गयी है। पूजा का एक 13 साल का लड़का है। और 8 साल की लड़की है। जो उसके पति की मौत के 13 दिन बाद लड़की पैदा हुई थी। तब पूजा के पिता उसको उसके बच्चों को अपने घर ले आए थे। पूजा एक साल बाद अपनी ससुराल गई, ससुराल वालों ने उसे पहचानने से मना कर दिया। लड़का ही नहीं तो बहु कैसी। ससुर ने कहा जा लड़का पाल जाके 18 साल का हो जाएगा तो हिस्सा ले लेगा। दो साल बाद ससुर भी गुजर गए। अब पूँजी के वारिस सिर्फ जेठ ही बचे। पूजा अपने पिता के घर पर रह कर गांव में मजदूरी कर अपने बच्चों को पाल रही थी। जैसे-तैसे पति के गुजरे आठ साल हो गए। आखिर कब तब अपने बाप के घर पर पड़ी रहेगी। उसके भाइयों की पूँजी ही खत्म हो रही है। इसलिए घर से कहीं और जाकर रहने का दबाव है। पिता तो तैयार है। दूसरी शादी करने के लिए मगर पूजा का कहना है। इन बच्चों को कौन रखेगा। इसलिए पूजा अपना गांव छोड़कर अपनी मौसी के साथ गुड़गांव शहर में आयी है। बड़ी मिन्नत करके पड़ोस की आंटी के साथ फैक्टरी आने लगी है। एक-दो महीने बाद अपने बच्चों को भी ले आएगी और यही शहर में उनको पढाएंगी।

शिवानन्द, गुड़गाँव

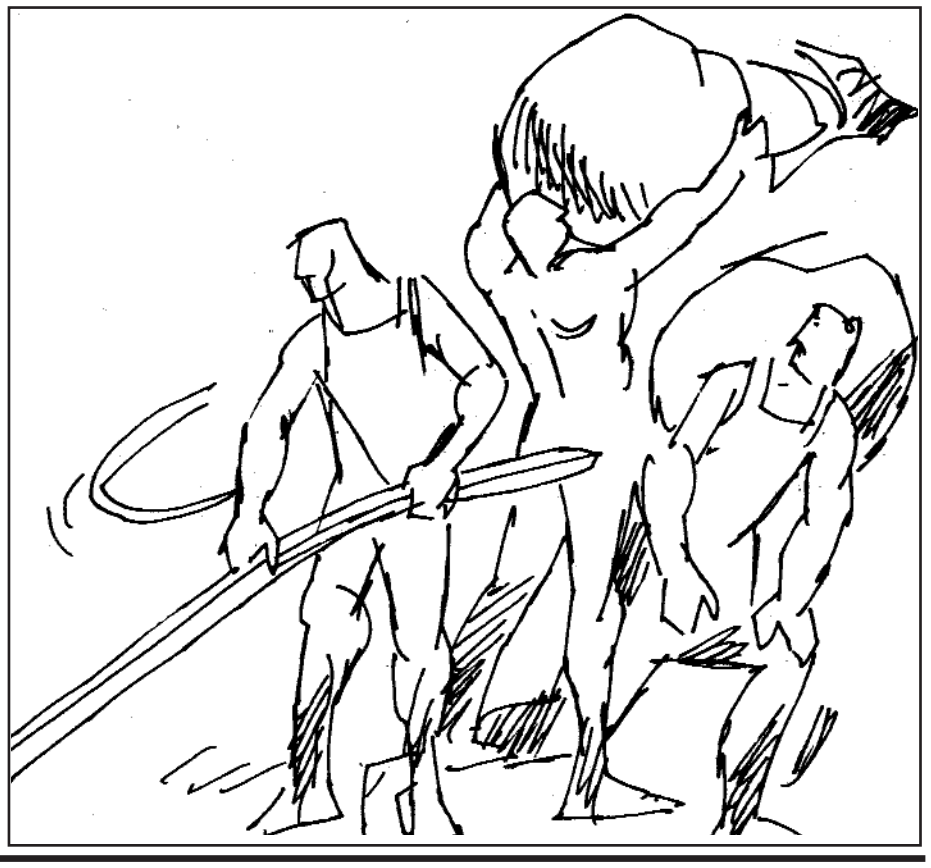

पूँजीवादी नीतियों के कारण ख़स्ताहाल अर्थव्यवस्था का बोझ ढोती रहेगी मेहनतकश जनता

(पेज 1 से आगे)

केन्द्रीय सांख्यकीय संगठन (सी.एस.ओ.) के मुताबिक, चालू वित्तीय वर्ष में सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) की वृद्धि दर केवल5फीसदी रहने का अनुमान है जो पिछले एक दशक में अर्थव्यवस्था का सबसे ख़राब प्रदर्शन है। प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह बार-बार कह रहे हैं कि "देश संकट के दौर से गुज़र रहा है।" ज़ाहिर है, हमेशा की तरह इस संकट का बोझ देश के ग़रीबों-मेहनतकशों की पहले से झुकी हुई पीठ पर ही पड़ना है। संकट से निकलने के लिए प्रधानमन्त्री तथा वित्तमन्त्री, योजना आयोग के उपाध्यक्ष मोण्टेक सिंह अहलूवालिया, प्रधानमन्त्री के आर्थिक सलाहकार तथा अन्य लगभग सभी बुर्जुआ अर्थशास्त्री, सभी अख़बार आर्थिक सुधारों की गति तेज़ किये जाने की ज़ोर-शोर से वकालत कर रहे हैं। इन आर्थिक सुधारों में बचे-खुचे पब्लिक सेक्टर का तेज़ी से निजीकरण, श्रम क़ानूनों में बदलाव, हर तरह की सब्सिडियों का ख़ात्मा तथा देश की अर्थव्यवस्था को विदेशी पूँजी के लिए और अधिक खोलना शामिल है। ऐसा करते हुए ये लोग भूल जाते हैं कि ठीक इन्हीं क़दमों के कारण अर्थव्यवस्था आज इस हालत में पहुँची हुई है। मगर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उनके पास दूसरा कोई उपाय भी नहीं है। अमेरिका से लेकर यूरोप तक सारी दुनिया की पूँजीवादी सरकारें यही कर रही हैं, और संकट के दुष्चक्र में गोल-गोल घूम रही हैं।

वर्तमान बजट में भी यही किया गया है। बजट पेश करने से ठीक पहले जनवरी के महीने में चिदम्बरम विदेशी वित्तीय पूँजी के प्रमुख केन्द्रों-हांगकांग, सिंगापुर, लन्दन और फ्रैंकफर्ट में बड़े विदेशी निवेशकों, बड़े फण्ड मैनेजरों और निवेश बैंकों के प्रतिनिधियों को भरोसा दिलाने गये कि बजट में उनके हितों और माँगों का पूरा ध्यान रखा जायेगा। यूपीए सरकार ने तय कर लिया है कि चुनावों से पहले देशी-विदेशी बड़ी पूँजी और कार्पोरेट घरानों को खुश करना और उनका भरोसा जीतना ज़्यादा ज़रूरी है।इसकी एक वजह यह भी है कि देशी-विदेशी पूँजीपतियोंद्वारा गुजरात के मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी की प्रधानमंत्री की दावेदारी के खुले समर्थन से कांग्रेस नेतृत्व घबराया हुआ है। पूँजीपतियोंद्वारामोदी के समर्थन की भी यही वजह है क्योंकि उन्हें एक ऐसा आदमी चाहिए जो उनके हितों को पूरा करने की ख़ातिर (जनता के लिए) "कड़े फ़ैसले" ले सकता हो। गुजरात में हर तरह के विरोध को रौंद-कुचलकर और पूँजीपतियों की लूट के लिए राज्य के संसाधनों को उपलब्ध कराकर वह उनका चहेता बन ही चुका है।दूसरी ओर, देशी-विदेशी घराने यूपीए सरकार पर आर्थिक सुधारों को तेज़ी से आगे बढ़ाने में नाकाम रहने के कारण 'नीतिगत लकवे' का आरोप लगाते रहे हैं।इसीलिए सरकार ने पिछले छह महीनों में देशी-विदेशी बड़ी पूँजी का भरोसा जीतने के लिए आर्थिक सुधारों को आक्रामक तरीके से आगे बढ़ाया है।

बजट भाषण में वित्त मंत्री ने खाद्य सुरक्षा को 'मूलभूत अधिकार' और खाद्य सुरक्षा क़ानून के प्रति यूपीए सरकार की वचनबद्धता का ऐलान करते हुए भी उसके लिए दिखावे के तौर पर दस हज़ार करोड़ रुपये दिये हैं। 2009 के चुनावों में वायदे के बावजूद सरकार खाद्य सुरक्षा क़ानून को लागू करने को लेकर बहुत उत्साहित नहीं है। यही कारण है कि खाद्य सुरक्षा को सबका अधिकार बनाने और सबके लिए भरपेट भोजन की गारण्टी करने से मुकर चुकी सरकार सीमित और आधे-अधूरे खाद्य सुरक्षा क़ानून को भी लागू करने और उसके लिए पर्याप्त बजट प्रावधान करने से कन्नी काट रही है। यूपीए सरकार मनरेगा की उपलब्धियों का ढिंढोरा पीटती रहती है। लेकिन मनरेगा का बजट दो साल पहले 40हज़ार करोड़ रुपये था लेकिन पिछले दो बजटों से उसके बजट में सात हज़ार करोड़ रुपये की कटौती करके उसे 33हज़ार करोड़ रुपये कर दिया गया। अगले साल के बजट में भी चिदम्बरम ने 33हज़ार करोड़ रुपये का ही आवण्टन किया है जबकि रुपये की कीमत लगातार गिरती जा रही है।

इस बजट में सबसे अधिक गाज योजना बजट पर गिरी है। चिदम्बरम ने बजट भाषण में योजना बजट ख़ासकर ग्रामीण विकास, शिक्षा, स्वास्थ्य और कृषि के लिए भारी आवण्टन का दावा किया है। लेकिन यह आँकड़ों की बाज़ीगरी के अलावा कुछ नहीं है। योजना बजट में यह भारी कटौती उस साल की गयी है, जब अर्थव्यवस्था घरेलू माँग और निवेश में गिरावट के कारण लड़खड़ा रही है, वृद्धि दर में कमी आ रही है और उसके गहरे संकट में फँसने का खतरा बढ़ता जा रहा है। लेकिन वित्त मंत्री ने अर्थव्यवस्था को ख़तरे में डालकर बड़ी देशी-विदेशी पूँजी खासकर वित्तीय पूँजी को खुश करने के लिए योजना बजट में कटौती की है। अगर सरकार खुद कृषि, बुनियादी ढाँचे, ख़ासकरसामाजिक बुनियादी ढाँचेयानी शिक्षा और स्वास्थ्य आदि में भारी निवेश करती तो उससे न सिर्फ़ लोगों को रोज़गार मिलता बल्कि महँगाई पर काबू पाना भी आसान होता। लेकिन इसके उलट वित्त मंत्री ने विदेशी पूँजी और क्रेडिट रेटिंग एजेंसियों को खुश करने के लिए राजकोषीय घाटे को कम करने के लिए सब्सिडी से लेकर योजना बजट तक में कटौती कर डाली है। इसका ख़ामियाजा आमलोगों को ही भुगतना पड़ेगा।की गयी कटौतियाँ का नतीजा यह होगा कि अगले साल चुनावों के बाद लगातार तीन सालों तक राजकोषीय घाटे में कटौती के नामपर आमलोगों पर अधिक से अधिक बोझ डालकर सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं के बजट में कटौती होती रहेगी।

इसमें कोई शक नहीं है कि अर्थव्यवस्था गहरे संकट में है औरवित्त मंत्री पर ऐसा बजट पेश करने का दबाव है जो अर्थव्यवस्था की मद्धिम पड़ती रफ्तार को फिर से तेज़ कर सके। इसके लिए जरूरी है कि अर्थव्यवस्था में निवेश बढ़े। लेकिन निवेश बढ़ाने की रणनीति को लेकर अर्थव्यवस्था के मैनेजरों और अर्थशास्त्रियों में मतभेद हैं। वित्त मंत्री और उनके आर्थिक मैनेजरों समेत नव उदारवादी आर्थिक सुधारों के पैरोकारों का मानना है कि निवेश बढ़ाने के लिए सरकार को निवेश के अनुकूल माहौल बनाने और निजी निवेश की राह में आनेवाली बाधाओं को हटाने पर ज़ोर देना चाहिए और बाकी निजी क्षेत्र पर छोड़ देना चाहिए। लेकिन अर्थव्यवस्था के मैनेजरों का तर्क है कि अर्थव्यवस्था को वैश्विक मन्दी के संकट से उबारने के लिए चार साल पहले ही स्टिमुलस पैकेज दिया जा चुका है और उसके कारण बढ़ते राजकोषीय घाटे को देखते हुए अब राजकोषीय स्थिति को सुदृढ़ करने की सख्त जरूरत है। यूपीए सरकार ने वर्ष 2007-08 में अमेरिकी आर्थिक संकट के बाद पैदा हुई वैश्विक आर्थिक संकट से निपटने के लिए कोई दो लाख करोड़ रुपये के स्टिमुलस पैकेज का एंलान किया था। इस पैकेज के कारण कारपोरेट क्षेत्र अपने मुनाफ़े को बनाये रखने में कामयाब रहा। दूसरी ओर, स्टिमुलस पैकेज के कारण राजकोषीय घाटे में तेज़ी से वृद्धि हुई।

चिदम्बरम सार्वजनिक निवेश के बजाय निजी देशी-विदेशी निवेश में बढ़ोत्तरी पर दाँव लगा रहे हैं। इसके लिए वे उसकी हर माँग पूरी कर रहे हैं। राजकोषीय घाटे में कमी के लिए आमलोगों पर अधिक से अधिक बोझ लादने के साथ-साथ वे अर्थव्यवस्था के बचे क्षेत्रों जैसे खुदरा व्यापार को विदेशी पूँजी के लिए खोल रहे हैं। अर्थव्यवस्था की कमान बड़ी देशी-विदेशी पूँजी और कार्पोरेट घरानों के हाथों में सौंपने के बाद वित्त मंत्री के पास इसके अलावा और कोई विकल्प भी नहीं रह गया है किबड़ी देशी-विदेशी पूँजी के ब्लैकमेल के आगे घुटने टेक दें।

इस बजट में महँगाई से निपटने के लिए कुछ नहीं है। उल्टे, डीज़ल और पेट्रोल के दामों में बढ़ोत्तरी का असर हर चीज़ पर पड़ने वाला है। रेल किरायों में बढोत्तरी पहले ही हो चुकी है।भारतीय अर्थव्यवस्था की हालत से साफ है कि आने वाले दिनों में इसका संकट और गहरायेगा। यह संकट भारत के मेहनतकश अवाम के लिए भी ढेरों मुसीबतें लेकर आयेगा। गरीबी, बेरोज़गारी, महँगाई में और अधिक इज़ाफ़ा होगा। चुनावी वर्ष के बजट ने वास्तविक हालत को ढाँपने-तोपने की चाहे जितनी कोशिश की हो, भारत के मेहनतकशों को आने वाले कठिन हालात का मुक़ाबला करने के लिए अभी से तैयारी शुरू कर देनी होगी।

भारत की 'सिलिकन घाटी' की चमक-दमक की ख़ातिर उजड़ा मेहनतकशों का आशियाना

(पेज 5 से आगे)

का इस्तेमाल करते हुए इस बिल्डर ने 22 एकड़ की कुल जमीन में से 17 एकड़ की जमीन पर एक भव्य शापिंग मॉल बनाने की योजना बनायी। विस्थापित लोगों को फुसलाने के लिए उसने शेष 5 एकड़ की जमीन पर उनके लिए घर बनाने की बात कही। लेकिन यह एक चाल थी क्योंकि वहाँ रहने वालों के लिए कानूनी रूप से यह सिद्ध करना एक टेढ़ी खीर थी कि वे वहाँ पहले रहते थे। मामला अदालत तक गया और जैसा कि अमूमन देखने में आता है अदालत ने बिल्डर का पक्ष लिया। इसके बाद बिल्डर ने शासन-प्रशासन में अपनी पहुँच का इस्तेमाल करते हुए 19-20 जनवरी को बस्ती में भारी पुलिस बल और बुलडोजर भेजकर 1500 परिवारों के लगभग 8000 लोगों को उनके अस्थायी घरों से भी उजाड़ दिया। इसके पहले इस बस्ती में पानी और बिजली की सप्लाई भी काट दी गयी। जब लोगों ने इस सरासर अन्याय का प्रतिरोध किया तो पुलिस ने स्वामी भक्ति का मुजायरा करते हुए इस प्रतिरोध का बर्बर दमन किया। इनमें से अधिकांश लोग तो अन्य इलाकों में बिखर गये, परन्तु कुछ लोग अभी भी अपने परिवार और साजो समान सहित वहीं पर पड़े हैं क्योंकि उन्हें और कहीं जाने का कोई रास्ता नहीं सूझ रहा है।

इजीपुरा जैसी घटना बर्बर भले ही प्रतीत हो परन्तु यह अपने आप में कोई अपवाद हरगिज़ नहीं है। क्या यह सही नहीं है कि हिन्दुस्तान के हर शहर में मेहनतकश आबादी गाय-गोरू की तरह अमानवीय हालात में रहती है? यही नहीं ऐसे अमानवीय हालात में भी एक जगह बहुत दिन तक टिकने से पहले ही उन्हें उजाड़ कर दूसरी अमानवीय जगह पटक दिया जाता है। जानवरों से भी बदतर यह ज़िन्दग़ी तब तक क़ायम रहेगी जब तक समाज पूँजी के नियन्त्रण में रहेगा। इजीपुरा की बर्बर घटना एक बार फिर हमें मुनाफ़े ही अन्धी हवस पर टिकी मौजूदा व्यवस्था को उखाड़ फेंकने की ज़रूरत पर शिद्दत से सोचने पर मजबूर करती है।

भारत में लगातार चौड़ी होती असमानता की खाई और जनता की बर्बादी की कीमत पर हो रहे विकास पर एक नजर ! !

अनेक आँकड़ों, तथ्यों और मन्त्रियों-नेताओं के बयानों से कोई भी यह सोच सकता है कि भारत काफी तेज गति से विकास के ट्रेक पर आगे बढ़ता चला जा रहा है, और एकता तथा अखण्डता की एक मिसाल प्रस्तुत कर रहा है। लेकिन जब असलियत पर नजर जाती है तो विकास की सच्ची तस्वीर सामने आ जाती है जो हवा के एक बुलबुले की तरह है। जहाँ करोड़ों लोगों के जीवन की बर्बादी की कीमत पर कुछ लोगों को विकास के साथ सारे ऐशो-आराम मुहैया कराए जा रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी-साम्राज्यवादी वैश्वीकरण नीतियों के अनुरूप योजनाएँ बनाते हुए भारत की सरकार ने पिछले 20 सालों से देश के बाजार को वैश्विक बाजार के लिये लगातार अधिक खुला बनाया है, और पूँजी के खुले प्रवाह के लिये निवेश में उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों को लागू किया है। इन नीतियों को लागू करने के लिये श्रम कानूनों को लगातार लचीला बनाने के नाम पर मज़दूरों के सभी अधिकारों की एक-एक कर तिलाँजलि दे दी गई है। इस "विकास" को हासिल करने के लिये सरकार नीतियों में फेरबदल करते हुए देशी-विदेशी व्यापारिक संस्थाओं और उद्योगपतियों को कई प्रकार की सब्सिडी मुहैया कराती है और कई तरह की छूट देती है। इन नीतियों को लागू करने का परिणाम यह है कि आज ग़रीबों को और अधिक गरीबी में धकेल दिया गया है, मज़दूरों की और ज्यादा दुर्गति हुई है, जनता के कष्ट और बढ़े हैं, और पूरे देश के स्तर पर किसानों में आत्महत्याओं का सिलसिला लगातार बढ़ रहा है। विकास और उन्नति की इन नीतियों का यह परिणाम सामने आया है कि देश के कुल 46 करोड़ मज़दूर आबादी में से 93 प्रतिशत, अर्थात 43 करोड़ मज़दूरों को असंगठित क्षेत्र में धकेल दिया गया है जहाँ वे बिना किसी क़ानूनी सुरक्षा के गुलामों जैसी परिस्थितियों में काम करने के लिये मजबूर हैं। बीबीसी की एक रिपोर्ट के अनुसार इस पूरे परिवर्तन के दौरान देश में अमीरों-गरीबों के बीच असमानता दो-गुना बड़ चुकी है। और ऊपर के 10 प्रतिशत लोगों की आय निचले स्तर पर जीने वाले 10 प्रतिशत लोगों की आय से 12 गुना अधिक है, जो कि बीस साल पहले 6 गुना थी। इसी के साथ शहरी अमीरों और ग्रमीण अमीरों के बीच भी असमानता मौजूद है। बीबीसी की एक रिपोर्ट के अनुसार शहरों में रहने वाले अमीर, ग्रामीण अमीरों से 221 प्रतिशत अधिक खर्च करते हैं। विकास के चलते जनता की दुर्गति का सिलसिला यहीं नहीं थमता, एक सरकारी आँकड़े के अनुसार देश में हर एक घण्टे में दो लोग आत्महत्या करते हैं, जिसमें आदिवासी, महिलाओं और दलितों से सम्बन्धित आँकड़े शामिल नहीं हैं।

देश में उपभोग करने वाली एक छोटी आबादी को चकाचौंध में डूबाने के लिये और अमेरिका-जापान से लेकर यूरोप तक पूरी दुनिया की पूँजी को मुनाफ़े का बेहतर बाज़ार उपलब्ध कराने के लिये जनता के कई अधिकारों को अप्रत्यक्ष रूप से छीना जा चुका है। इसके कई उदाहरण है कि जगह-जगह शोषण-उत्पीड़न के विरुद्ध और अपने अधिकारों के लिये होने वाले मज़दूर आन्दोलनों और जनता की आवाज को दबाने के लिये पुलिस-प्रशासन का इस्तेमाल अब खुले रूप में किया जा रहा है, कश्मीर से लेकर देश के उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में जनता पर सैन्य शासन के साथ ही अब मज़दूर इलाकों में भी मालिकों के कहने पर पुलिस प्रशासन जब चाहे फासीवादी तरीक़े से मज़दूरों का दमन उत्पीड़न कर आतंक फ़ैलाने से बाज नहीं आती। और यह सब इसलिये किया जाता है जिससे कि कुछ अमीर लोगों को देश के विकास का हिस्सेदार बनाया जा सके!

एक रिपोर्ट के अनुसार 45 करोड़ भारतीय ग़रीबी रेखा के नीचे जा रहे हैं, जिसका अर्थ है कि वे भुखमरी की कगार पर बस किसी तरह ज़िन्दा हैं। इन ग़रीबों की प्रति दिन की आय 12 रु से भी कम होती है। इतनी आमदनी मे कोई मूलभूत सुविधा मिलना तो बहुत दूर की बात है, बल्कि एक व्यद्रि को किसी तरह सिर्फ़ जिन्दा बने रहने के लिये भी संघर्ष करना पड़ता है, और वह भी तब जब यह मान लिया जाये कि वह व्यद्रि कभी बीमार नहीं पड़ेगा और जानवरों की तरह सभी मौसम बर्दाश्त कर लेगा!

एक तरफ़ ग़रीबी लगातार बड़ रही है, वहीं दूसरी ओर समाज के एक छोटे हिस्से का प्रतिनिधित्व करने वाले उद्योगपतियों, लोकसभा के सदस्यों, न्यायपालिका में काम करने वाले लोगों, नेताओं, सरकारी अधिकारियों और बाबुओं के घरों में पैसों के ढेर लगातार ऊँचे होते जा रहे हैं। आम जनता की इस बर्बादी के दौरान भारत "तरक्की" भी कर रहा है! फ़ोर्ब्स पत्रिका द्वारा जारी की गई दुनिया के 61 देशों में अरबपतियों की संख्या की एक सूची में भारत चौथे नम्बर पर है। भारत के इन अरबपतियों की कुल सम्पत्ति 250 अरब है, जिसकी तुलना में जर्मनी और जापान के अमीर अरबपतियों को ग़रीब माना जा सकता है। इन अरबपतियों के साथ ही भारत में दो लाख करोड़पति भी हैं जो भारत की बड़ी कम्पनियों को चलाते हैं।

भारत को एक जनतन्त्र कहा जाता है और 120 करोड़ आबादी वाले इस जनतन्त्र में 100 सबसे अमीर लोगों की कुल सम्पत्ति पूरे देश की कुल वार्षिक उत्पादन का एक चौथाई से भी अधिक हिस्सा है। इस तरह सबसे बड़े जनतन्त्र में सारी शद्रि ऊपर के कुछ लोगों की जेब तक सीमित है। इकोनॉमिक टाइम्स के अनुसार विकास की दौड़ में मध्यवर्ग की एक खायी-अघायी आबादी भी शामिल है, जो 16 करोड़ यानि कुल आबादी का 13.1 प्रतिशत हिस्सा है द्धइकोनामिक टाइम्स 6/2/2011ऋ। मध्यवर्ग का यह हिस्सा विश्व पूँजीवादी कम्पनियों को अनेक विलासिता के सामानों बेचने के लिये बड़ा बाज़ार मुहैया कराता है। समाज का यह हिस्सा अमानवीय स्थिति तक माल अन्ध भद्रि का शिकार है, जिसमें टीवी और अखबारों में दिखाये जाने वाले विज्ञापन उन्हें कूपमण्डूक बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ते। करोड़ों मेहनत करने वाले लोगों के ख़ून पसीने से पैदा होने वाले सामानों पर ऐश करने वाले समाज के इस हिस्से को देश की 80 प्रतिशत जनता की ग़रीबी और बर्बादी तथा दमन-उत्पीड़न से कोई खास फ़र्क नहीं पड़ता, बल्कि यह समाज के दबे कुचले हिस्से को देश की प्रगति में बाधा मानता है। इसी मध्यवर्ग को अपने माल के एक बाजार के रूप में देखते हुए अमरीकी और यूरोपीय उद्योगपति बड़ी खुशी के साथ इसकी व्याख्या करते हैं कि यहाँ उनके उत्पादित माल और ऑटोमोबाइल के लिये एक बड़ा बाज़ार मौजूद है।

आगे कुछ और आँकड़ों पर नजर डालने से असमानता और विकास की भयावह स्थिति और साफ़ हो जायेगी। यूनाइडेट नेशन्स डेवलपमेण्ट प्रोग्राम ने मानवीय विकास सूचकांक में भारत को 146 देशों की सूची में 129 वे स्थान पर रखा गया है, जिसमें लिंग भेद के मानक भी शामिल हैं। ह्यूमन डेवलपमेण्ट रिपोर्ट में कहा गया है कि लगभग 30 साल पहले भारत के लोग बेहतर जीवन गुज़ारते थे। एक अन्य रिपोर्ट के अनुसार पिछले 30 सालों के अन्तराल में गरीबों की संख्या में कोई कमी नहीं हुई है (इंडिया टुडे, 22-10-11)। भारत के ही सरकारी आँकड़े के अनुसार देश की 77 प्रतिशत जनता (लगभग 84 करोड़ लोग) गरीबी में जी रही है, जो प्रति दिन 20 रुपयों से भी कम पर अपना गुजारा करती है। हमारे देश में दुनिया के किसी भी हिस्से से अधिक, 46 प्रतिशत बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। भारत की एक तिहाई आबादी भुखमरी की शिकार है और यहाँ हर दूसरे बच्चे का वजन सामान्य से कम है और वह कुपोषण का शिकार है। वैश्विक भूख सूचकांक (यानी ग्लोबल हंगर इंडेक्स) के आधार पर बनी 88 देशों की सूची में भारत 73वें स्थान पर है जो पिछले साल से 6 स्थान नीचे है। 2012 के बहुआयामी (मल्टीडायमेंशनल) ग़रीबी सूचकांक के अनुसार बिहार, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल में 42 करोड़ लोग ग़रीबी के शिकार हैं।

एक संस्था ओ.ई.सी.डी. के अनुसार भारत की प्रगति का नतीजा यह है कि आज भारत में पूरी दुनिया के सबसे अधिक गरीब लोग रहते हैं। यही बजह है कि जनता की मेहनत और समाज के संसाधनों की लूट के चलते अम्बानी जैसे कुछ लोग कई-कई मंजिला मकान बनाकर अपनी अमीरी का प्रदर्शन करने में भी कोई शर्म महसूस नहीं करते।

भारत के पूँजीवादी जनतन्त्र (इसे दमनतन्त्र कहना ज्यादा सही होगा) में हो रहे विकास की असली तस्वीर यही है, जहाँ जनता की बर्बादी और मेहनत करने वालों के अधिकारों को छीनकर देश के कुछ मुठीभर उद्योगपतियों, अमीरों, नेताओं, सरकारी नौकरशाहों को आरामतलब ज़िन्दगी मुहैया कराई जा रही है, और देशी विदेशी पूँजीपतियों को मुनाफ़ा निचोड़ने के लिये खुली छूट दे दी गई है।

– राजकुमार

भारत की 'सिलिकन घाटी' की चमक-दमक की ख़ातिर उजड़ा मेहनतकशों का आशियाना

सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग (आई टी इण्डस्ट्री) का गढ़ होने की वजह से बंगलूरू को भारत की 'सिलिकन घाटी' कहा जाता है।पिछले दो दशकों के दौरान सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग की वजह बंगलूरू की तस्वीर बदल गई है। ऐतिहासिक रूप से अपनी हरियाली और प्राकृतिक छटा के लिए मशहूर यह शहर अब फ्लाई ओवर, शॉपिंग मॉल, होटल, अपार्टमेण्ट आदि से पटे हुए कंक्रीट के जंगल में तब्दील हो चुका है। हलाँकि सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग में काम करने वाली आबादी देश की पूरी श्रमिक आबादी का एक बेहद छोटा हिस्सा है, फिर भी चूँकि यह आबादी बाज़ार में उपलब्ध ऐशो-आराम के तमाम साजो समान को खरीदने की कुव्वत रखती है, इसलिए बंगलूरू शहर का पूरा विकास इस छोटी सी आबादी की ज़रूरतों को केन्द्र में रखकर किया जा रहा है। तमाम विज्ञापनों के ज़रिये इस आबादी को अमेरिका और पश्चिमी यूरोपीय देशों जैसी जीवन शैली के सपने दिखाये जाते हैं। वातानुकूलित घरों और कार्यालयों में रहने वाले तथा वातानुकूलित गाड़ियों और शॉपिंग मॉलों में विचरण करने वाली इस आबादी को यह आभास तक नहीं होता कि उनके सपनों की दुनिया का निर्माण करने वाली बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी न सिर्फ इन सपनों से वंचित होती जा रही है बल्कि उसकी रही सही दुनिया भी दिन-ब-दिन उजड़ती जा रही है। मुम्बई के गोलीबार और कोलकता के नोनदंगा प्रकरण की तर्ज़ पर बंगलूरू में भी 19-20 जनवरी को इजीपुरा नामक मज़दूर बस्ती को प्रशासन और रियल स्टेट माफिया की मिलीभगत से उजाड़ दिया गया और देखते ही देखते मेहनतकशों के 1500 परिवारों के लगभग 8000 लोग सड़क पर आ गये।

इजीपुरा मज़दूर बस्ती बंगलूरू के कोरमंगला इलाके के क़रीब स्थित है। बंगलूरू के सॉफ्टवेयर इंजीनियरों की बहुत बड़ी तादाद कोरमंगला में रहती है। इस इलाके में पिछले दो दशकों के दौरान सॉफ्टवेयर इंजीनियरों को ध्यान में रखते हुए अपार्टमेंट, शापिंग मॉल, होटलों और फ्लाई ओवर आदि के रूप में अभूतपूर्व विकास हुआ जिसमें बंगलूरू शहर के बिल्डर माफिया ने सॉफ्टवेयर इंजीनियरों और कॉरपोरेट सेक्टर में काम करने वाले अन्य मध्यवर्गीय लोगों के सपनों का आशियाना बनाने की हसरत को माल में तब्दील कर अकूत मुनाफ़ा पीटा और स्थानीय नेताओं और प्रशासन के साथ इस मुनाफ़े की बंदरबाँट की। बंगलूरू शहर के केन्द्रीय हिस्से में तो पहले से ही कोई जगह नहीं बची थी, पिछले दो दशकों के दौरान सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग के जबर्दस्त विकास की वजह से कोरमंगला जैसे शहर के परिधिगत हिस्सों में भी जगह की किल्लत होने लगी। जैसा कि दुनिया भर में पूँजीवादी शहरी विकास की प्रक्रिया के दौरान होता आया है, बंगलूरू में भी इस क़िस्म के विकास की गाज़ ग़रीब और कमज़ोर मेहनतकश वर्ग पर ही गिरी।

एक अर्से से बंगलूरू के बिल्डर माफिया की निगाहें इजीपुरा की मज़दूर बस्ती पर पड़ी थीं। यह मज़दूर बस्ती 1984 में शहरी ग़रीबों के लिए आवास योजना के तहत बंगलोर महानगर पालिका द्वारा बसायी गयी थी। इसमें घरेलू नौकर, सिक्योरिटी गार्ड, ठेला, रेहड़ी और खोमचा लगाने वाली, ड्राइवर इत्यादि जैसे काम करने वाली मेहनतकश आबादी रहती है। आरम्भ में एक कमरे के घरों वाली तिमंजिला इमारतें बनायी गई थीं जिनमें शौचालय, बिजली पानी जैसी बुनियादी सुविधाओं की हमेशा किल्लत रहती थी। इस किल्लत के बावजूद इनमें रहने वाले लगभग 1500 परिवारों के लिए सिर के ऊपर छत होना एक बहुत बड़ी सहूलियत थी। घटिया सामग्री से बने होने की वजह से 2005 के आते-आते इनमें से कई इमारतें ढहने लगी। मौके का फायदा उठाते हुए बंगलोर महानगर पालिका ने सारी इमारतें तोड़ दीं और उनमें रहने वाले मज़दूर टिन और बाँस के अस्थायी घरों में रहने लगे। उस समय सरकार ने इन लोगों को भरोसा दिलाया था कि तोड़ी गयी इमारतों की जगह नयी इमारतें बनाकर उनका पुनर्वास किया जायेगा।

सरकार ने पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप के जुमले को उछालते हुए इजीपुरा की जमीन को एक निजी बिल्डर को सुपुर्द कर दिया। उदय गरुड़ाचार नाम का यह बिल्डर सत्तारूढ़ भारतीय जनता पार्टी का सदस्य है और कर्नाटक के पूर्व डीजीपी का पुत्र है। बंगलूरू में उसके कई शापिंग मॉल और अपार्टमेंटों की एक लम्बी श्रृंखला है। अपनी पहुँच

(पेज 4 पर जारी)

मारुति सुज़ुकी मज़दूर आन्दोलन के इस निर्णायक चरण में आगे बढ़ने के लिए भीतर मौजूद विजातीय रुझानों और विघटनकारी ताक़तों से छुटकारा पाना होगा

(पेज 1 से आगे)

के नेतृत्व के साथियों को इस निर्णय पर बधाई देते हैं। निश्चित तौर पर, इन्तज़ार करने और एक जगह से दूसरी जगह एक-एक दिन का प्रदर्शन करते हुए मज़दूरों के बीच भी एक थकान आयी है। ऐसे में, हम मारुति सुज़ुकी के सभी आन्दोलनरत मज़दूर साथियों का आह्वान करेंगे कि एक बार फिर से उठ खड़े हों, कमर कसें और एक आख़िरी निर्णायक लड़ाई के लिए तैयार हो जायें। 'बिगुल मज़दूर दस्ता' हर क़दम पर मारुति सुज़ुकी मज़दूरों के आन्दोलन में अगली कतारों में मौजूद रहा है और पूरी ताक़त के साथ शामिल रहा है, और हम आपको पूरी शिद्दत के साथ भरोसा दिलाना चाहते हैं कि आगे भी ऐसा ही होगा।

हमने पिछले अंक में लिखा था कि हमारी स्पष्ट राय है कि निर्णायक अनशन की शुरुआत करने के लिए सबसे उपयुक्त जगह दिल्ली है। दिल्ली में डेरा डालकर अपने आन्दोलन के अगले चरण की शुरुआत करने के कई फ़ायदे थे जो कि हरियाणा की सरकार और मारुति सुज़ुकी कम्पनी पर अधिकतम सम्भव दबाव बना सकते थे, जिससे कि मज़दूरों की माँगें पूरी होने की ज़्यादा गुंजाइश थी। मिसाल के तौर पर, मारुति सुज़ुकी के मज़दूर अगर गुड़गाँव में अपने डेरे की शुरुआत करते हैं, तो मीडिया कवरेज मिलनी मुश्किल है। स्थानीय अखबारों को छोड़ दिया जाय तो शायद ही कोई अच्छी मीडिया कवरेज मिल पाये। अभी हमारे आन्दोलन की जो हालत है, उसमें हम केवल अपनी जुटान करने की ताक़त के आधार पर नहीं जीत सकते हैं। यह हर आन्दोलनरत मारुति सुज़ुकी मज़दूर जानता है।ऐसे में हमें अपनी अगली चाल इस आधार पर तय करनी चाहिए थी, कि ऐसा कौन सा रास्ता हो सकता है, ऐसा कौन सा टैक्टिकलक़दम हो सकता है, जो कि कम्पनी और ख़ास तौर पर हरियाणा की सरकार पर भारी राजनीतिक दबाव निर्मित करे? ऐसा क़दम एक ही हो सकता था–दिल्ली के जन्तर-मन्तर जैसी किसी जगह पर सैकड़ों मारुति मज़दूर जुटते और अपना डेरा डाल देते। लेकिन यूनियन का नेतृत्व यह फ़ैसला नहीं ले पाया और अन्ततः गुड़गाँव में ही यह प्रदर्शन शुरू करने का फ़ैसला किया गया है। हमारा स्पष्ट मानना है कि दिल्ली में बैठना हमारे लिए कहीं ज़्यादा सफलतापूर्ण क़दम होता। लेकिन यूनियन कहीं पर भी निर्णायक संघर्ष करने का फ़ैसला करती है, तो 'बिगुल मज़दूर दस्ता' और 'मज़दूर बिगुल' उसके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर खड़ा होगा। इस क़दम का प्रस्ताव हम लम्बे समय से रखते आ रहे हैं।

लेकिन यह समझना ज़रूरी है कि अभी तक आन्दोलन में सही समय पर सही फ़ैसला न ले पाने की जो ग़लतियाँ होती रही हैं, उनके लिए कौन-सी बातें ज़िम्मेदार हैं। मिसाल के तौर पर, ऑटो वर्कर्स सम्मेलन के दौरान आन्दोलन के भीतर मौजूद कुछ ताक़तों और संगठनों ने पूरा प्रयास किया कि मज़दूर जन्तर-मन्तर तक रैली न निकाल पायें। कुछ संगठन जो अपने आपको आन्दोलन का मित्र बताते हैं, वे रैली को रद्द करने की कोशिशें कर रहे थे। इसके लिए नेतृत्व के साथियों को गुमराह करने के सभी प्रयास किये जा रहे थे। सभी मज़दूर चाहते थे कि रैली निकाली जाय। हरेक मारुति सुज़ुकी मज़दूर की यही माँग थी कि अम्बेडकर भवन के भीतर अगर सम्मेलन करके हम वापस गुड़गाँव चले गये तो इससे कुछ नहीं हासिल होगा। वैसे भी इस ऑटो वर्कर्स सम्मेलन में अन्य कारख़ानों के मज़दूर तो दूर, मारुति सुज़ुकी के आन्दोलनकारी साथी भी कम संख्या में आये थे। इसका कारण ही यही था कि दिल्ली में सीधे जन्तर-मन्तर पर पूरी दुनिया और मीडिया के सामने अपना प्रदर्शन करने की बजाय, एक संस्थान की चहारदीवारी के भीतर सम्मेलन करने का निर्णय लिया गया था और कई साथी पहले से ही यह कह रहे थे कि अगर जन्तर-मन्तर पर प्रदर्शन की बजाय सम्मेलन होगा तो वे दिल्ली नहीं जायेंगे। और ऐसा ही हुआ। अन्त में, पूर्वी दिल्ली से आयी कुछ यूनियनों और 'दिल्ली मेट्रो रेल कामगार यूनियन' के जत्थों के बूते ऑटो वर्कर सम्मेलन में लोगों की संख्या सम्मानजनक हो पायी। इस सम्मेलन के काफी पहले से ही 'बिगुल मज़दूर दस्ता' अपने लिखित सुझाव-पत्र देते हुए यूनियन के नेतृत्व को बता चुका था कि अम्बेडकर भवन में सम्मेलन करने का कोई फ़ायदा नहीं होगा; यह संघर्ष को भवनों में होने वाले सम्मेलनों में ले जाने का वक्त नहीं है; यह संघर्ष को सड़कों पर उतारने का वक्त है। लेकिन कानाफूसी और कुत्साप्रचार की राजनीति करने वाले कुछ संगठनों के प्रभाव में नेतृत्व के साथी जन्तर-मन्तर पर जाने का निर्णय नहीं ले रहे थे। यह तो मज़दूरों का नीचे से दबाव था, जिसके कारण अन्ततः अम्बेडकर भवन से जन्तर-मन्तर तक की लम्बी मज़दूर रैली निकली, जिसका कि बहुत अच्छा असर हुआ, हालाँकि कानाफूसी और कुत्साप्रचार की राजनीति करने वाले संगठनों ने इसे रोकने के लिए हर सम्भव कोशिश की।

इसके बाद, रोहतक की रैली के पहले भी 'बिगुल मज़दूर दस्ता' ने एक सुझाव पत्र यूनियन के नेतृत्व को सौंपकर कहा कि हम पहले ही हरियाणा सरकार के तमाम मन्त्रियों से लेकर मुख्यमन्त्री तक अपने ज्ञापन आदि पहुँचा चुके हैं, और वह हमारी बात सुनने की बजाय मारुति सुज़ुकी कम्पनी के दलाल के रूप में काम कर रहे हैं। ऊपर से, हमारी इतनी ताक़त नहीं है कि हम अपने संख्याबल के बूते हरियाणा सरकार को अपनी माँगें मानने या सुनने के लिए भी मजबूर कर पायें। ऐसे में, हमें सही रणनीति अपनाते हुए ऐसी जगह पर चोट करनी चाहिए जिससे कि सरकार और कम्पनी दोनों पर राजनीतिक दबाव निर्मित हो, और वह हमारी माँगें सुनने के लिए बातचीत की टेबल पर आये। इसके लिए हम जितनी ताक़त रोहतक के लिए जुटान करने में ख़र्च कर रहे हैं, अगर उतनी ताक़त दिल्ली में डेरा डालने के लिए करते तो अब तक शायद हमारी कुछ माँगों पर सुनवाई होने की सम्भावना पैदा हो गयी होती। हमने उस समय भी चेताया था कि हुड्डा कोई बात नहीं सुनेगा और कम्पनी की जुबान बोलेगा। हुआ भी यही। 21 फरवरी की वार्ता में तो हुड्डा ने यहाँ तक कहा कि दोबारा रोहतक में नज़र आये तो वह मज़दूरों को जेल में डाल देगा! इसी से क्या हरियाणा सरकार का पूरा रुख़ नहीं पता चल जाता? ऐसे में गुड़गाँव में बैठकर क्या हासिल होगा? जब तक पूरे देश के सामने और जनता के सामने मीडिया के ज़रिये मारुति सुज़ुकी मज़दूरों का अपने परिवारों के साथ किया जाने वाला अनशन नहीं प्रस्तुत होगा, तो क्या कम्पनी और हरियाणा सरकार पर कोई दबाव बन सकता है? क्या हरियाणा में किसी भी जगह पर इतनी तादाद में जुटान करने में हम आज सक्षम हैं कि हम हरियाणा की सरकार या कम्पनी को झुका दें? ये कुछ ज़रूरी सोचने के मुद्दे हैं!

आन्दोलन के भीतर मौजूद विजातीय रुझानों से छुटकारा पाये बग़ैर आगे नहीं बढ़ सकते हम!

इन सारी चीज़ों के बावजूद भी हम दिल्ली में बैठने का निर्णय नहीं ले पा रहे हैं, तो इसके पीछे ऐसे ही कानाफूसी और कुत्साप्रचार की राजनीति करने वाले संगठनों का हाथ है। इसका कारण यह है कि दिल्ली में इन कुत्साप्रचारक संगठनों की कोई ताक़त नहीं है। अगर मारुति के मज़दूर दिल्ली में डेरा डालते हैं, तो इन्हें भय है कि इनकी कलई खुल जायेगी और मारुति सुज़ुकी मज़दूर आन्दोलन पर इनका प्रभाव कम हो जायेगा। अपने सांगठनिक हितों की ख़ातिर ये आन्दोलन को ग़लत दिशा में ले जाने का प्रयास कर रहे हैं।यही वे विजातीय और भितरघाती ताक़तें हैं, जिनके बारे में हम आज मारुति सुज़ुकी के मज़दूर साथियों से कुछ शब्द कहना चाहते हैं। हम यहाँ पर इन ताक़तों के काम करने के कुछ तरीक़ों का ज़िक्र करेंगे। इन विजातीय प्रवृत्तियों के वाहक संगठनों के काम करने के कुछ ख़ास तौर-तरीक़े हैं, जिनसे आप इनकी पहचान कर सकते हैं, जो इस प्रकार से हैं:

1) ऐसे संगठनों के लोग आन्दोलन में सक्रिय समूची मज़दूर आबादी के सामने कभी भी अपनी राजनीतिक सोच और आन्दोलन की भावी योजना के बारे में अपने प्रस्तावों को नहीं रखते हैं। वास्तव में, इन संगठनों की आन्दोलनरत मज़दूरों की व्यापक आबादी में कोई पकड़ नहीं होती। ये मज़दूर साथियों के बीच संघर्ष की सही योजना पर एकराय बनाने और उस पर खुली चर्चा करने की बजाय, यूनियन के नेतृत्व के लोगों से निजी रिश्ते बनाने की राजनीति करते हैं। इसका कारण यह है कि इनके पास आन्दोलन को लेकर कोई भावी योजना होती ही नहीं है।

2) यह निजी प्रभाव यूनियन के नेतृत्व पर स्थापित करने के लिए किसी उम्रदराज़, दिखने में तजुरबेकार, रहस्यमय-सेव्यक्ति को भेजा जाता है! यह व्यक्ति अपनी उम्र, नकली तजुरबे और रहस्यावरण का इस्तेमाल करके यूनियन के नेतृत्व के कुछ निश्चित लोगों पर अपना प्रभाव बनाने का प्रयास करते हैं। इस निजी प्रभाव को स्थापित करने के लिए ये संगठन किसी भी प्रदर्शन या बड़ी मीटिंग के दौरान सभी मज़दूरों के सामने आन्दोलन के बारे में अपनी राय नहीं रखते। ये बन्द कमरों में नेतृत्व के लोगों के बीच कानाफूसी और साँयफुस्स की राजनीति करते हैं।

3) इसके साथ ही प्रभाव स्थापित करने के लिए इन संगठनों की एक और दिलचस्प रणनीति होती है। ये संगठन यूनियन के नेतृत्व के कुछ साथियों को भारत-भ्रमण कराते हैं, हालाँकि इससे मारुति सुज़ुकी मज़दूरों के आन्दोलन को कोई लाभ नहीं मिलता है। मिसाल के तौर पर, कोलकाता, मुम्बई, जयपुर आदि जैसी जगहों पर नेतृत्व के साथियों को ले जाकर उनका व्याख्यान आयोजित करवाया जाता है, जिससे कि नेतृत्व के वे साथी इन संगठनों के मुरीद बन जायें। नेतृत्व के साथियों पर प्रभाव स्थापित करने के लिए एक प्रकार से आन्दोलन में 'लाइम लाइट' में आने (चेहरा चमकाने) की विजातीय मानसिकता को खाद-पानी दिया जाता है। इसके लिए भी इन संगठनों के पास स्वयं अपनी ताक़त इन शहरों में नहीं होती। ऐसे संगठन मुम्बई या जयपुर जैसी जगहों पर अन्य संगठनों से मोर्चा बनाकर ऐसे व्याख्यान आयोजित करवाते हैं। हम सभी जानते हैं कि इससे हमारे आन्दोलन को कुछ नहीं मिलता है। नेतृत्व के साथियों को वही समय अपने क्षेत्र में रहकर मज़दूरों के बीच मिलने-जुलने और उनकी हौसला-अफज़ाई में देना चाहिए। लेकिन इन संगठनों ने यह बात फैला रखी है कि देश के तमाम राज्यों के तमाम शहरों में अगर अन्य संगठन हमारे पक्ष में प्रदर्शन करेंगे तो इससे मारुति मज़दूरों के आन्दोलन को मदद मिलेगी। पहली बात तो यह है कि अगर एम.एस.डब्ल्यू.यू. के नेतृत्व के साथियों का व्याख्यान टूर आयोजित न भी किया जाय, तो भी मारुति सुज़ुकी आन्दोलन का समर्थन करने वाले सभी संगठन हमारे आन्दोलन के पक्ष में प्रदर्शन करेंगे। ऐसा हो भी चुका है। लेकिन इन संगठनों का पूरा प्रयास यह होता है कि देश-भ्रमण कराकर नेतृत्व पर अपना प्रभाव स्थापित किया जाय। इस चीज़ से आन्दोलन को अभी तक नुकसान ही हुआ है। हम सभी संघर्षरत साथियों से आग्रह करेंगे कि इस बात को समझें।

4) इन साँयफुस्स की राजनीति करने वाले संगठनों का सबसे ख़तरनाक काम यह होता है कि आन्दोलन में पूरी ताक़त के साथ सक्रिय अन्य संगठनों के ख़िलाफ़ चोरी-चोरी कुत्साप्रचार करते हैं और अफ़वाहें फैलाते हैं। 'बिगुल मज़दूर दस्ता' के ख़िलाफ़ भी गुपचुप तरीक़े से ऐसे कुत्साप्रचार और अफ़वाहें फैलाने के अभियान चलाये गये; यह कुत्साप्रचार किया गया कि 'बिगुल मज़दूर दस्ता' के लोग तो किताबें छापते हैं (हालाँकि मज़दूरों के राजनीतिक शिक्षण और आन्दोलन से जुड़ी किताबें छापना तो किसी भी क्रान्तिकारी संगठन का एक ज़रूरी काम होता है, इसमें ग़लत क्या है!), इनके संगठन में परिवारवाद है, वगैरह-वगैरह। पहली बात तो यह कि मारुति सुज़ुकी के पूरे आन्दोलन में जो मज़दूर साथी मौजूद रहे हैं, वे जानते हैं कि 'बिगुल मज़दूर दस्ता' कोई मध्यवर्गीय, "वामपंथी" दाढ़ीधारी बुद्धिजीवियों का संगठन नहीं है, बल्कि यहइक़लाबी मज़दूरों कासंगठन है। जो भी साथी 9 दिसम्बर को ऑटो वर्कर्स सम्मेलन और जन्तर-मन्तर मार्च में शामिल हुए थे, वे सभी इस बात को देख चुके हैं और इसे अच्छी तरह से समझते हैं।दूसरी बात यह कि ऐसे घटिया आरोपों का जवाब देना हम अपनी गरिमा के ख़िलाफ़ समझते हैं। तीसरी बात यह है कि जिनके पास सीधे राजनीतिक चर्चा करने और सीधे विचारों का संघर्ष चलाने की ताक़त नहीं होती है और अपनी कोई राजनीतिक सोच नहीं होती है, वे ही कुत्साप्रचार की राजनीति करते हैं। ऐसे संगठन अपने संकीर्ण सांगठनिक हितों के लिए आन्दोलन को नुकसान पहुँचा सकते हैं, और इनसे सावधान रहना चाहिए।

5) कुत्साप्रचार और अफ़वाहें फैलाने, बन्द कमरों में यूनियन नेतृत्व के साथियों के कान में साँयफुस्स करने वाले, सफेद दाढ़ी दिखाकर अपना प्रभाव स्थापित करने का प्रयास करने वाले ये संगठन कभी भी खुले मंच पर सभी मज़दूरों के सामने अपनी पूरी सोच नहीं रखते। ये कभी यह नहीं बताते कि मारुति सुज़ुकी मज़दूर आन्दोलन को आगे कौन-सा रास्ता अपनाना चाहिए। क्योंकि इन्हें कुत्साप्रचार की राजनीति और कानाफूसी की राजनीति के अलावा और कोई राजनीति आती ही नहीं है। ये कूटनीति और दाँवपेंच में ही अपना सारा दिमाग़ ख़र्च कर देते हैं। इनके दिमाग़ में आन्दोलन की सफलता नहीं होती, बल्कि यह चिन्ता रहती है कि आन्दोलन के नेतृत्वकारी लोगों को किस तरह से अपने प्रभाव में लाया जाये, इसके लिए चाहे आन्दोलन को नुकसान ही क्यों न पहुँचाना पड़े! और इसी के लिए नेतृत्व और मज़दूरों के सामने आन्दोलन की भावी योजना का प्रस्ताव रखने के बजाय, कोलकाता, मुम्बई, जयपुर आदि की व्याख्यान यात्राएँ आयोजित करवायी जाती हैं!

6) इन कुत्साप्रचारक और दाँवपेंच की राजनीति करने वाले संगठनों की आख़िरी ख़ासियत यह है कि ये कभी भी केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों पर खुलकर मदद करने का दबाव बनाने के लिए

(पेज 10 पर जारी)

शहीद दिवस (23 मार्च) पर भगतसिंह व उनके साथियों के विचारों और सपनों को याद करते हुए!

भगतसिंह (28 सितम्बर 1907 – 23 मार्च 1931)

'इंक़लाब ज़िन्दाबाद'

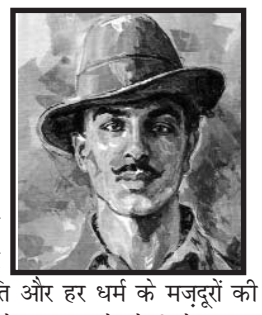

भगतसिंह और उनके क्रान्तिकारी साथियों द्वारा भारत की आज़ादी के संघर्ष के दौरान इस्तेमाल किये गये ये दो शब्द आज भी हर न्यायप्रिय इंसान की आत्मा को झकझोर देते हैं। इन शहीदों के यह शब्द हमें सोचने के लिये मजबूर करते हैं कि आज आज़ादी के 66 साल बाद भी हर तरफ़ मौजूद बेकारी, गैर्-बराबरी और ग़रीबी का क्या कारण है? और हमारे सामने एक सवाल खड़ा हो जाता है कि इन शहीदों के सपने क्या थे और वे समाज और आज़ादी के बारे में क्या सोचते थे? भगतसिंह को ज़्यादातर लोग असेम्बली में बम फेंकने वाले एक जोशीले क्रान्तिकारी नौजवान के रूप में तो जानते हैं, लेकिन एक विचारक के रूप में लोग उन्हें नहीं जानते। उनके विचार, उनके सिद्धान्त आज भी ज़्यादातर लोगों के लिये अनजान हैं। असेम्बली में बम फेंकने के बाद जेल में रहते हुये भगतसिंह और उनके साथियों ने अनेक पुस्तकों का अध्ययन किया। इस दौरान भगतसिंह ने कई महत्वपूर्ण लेख लिखे जो उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हो सके। इन लेखों में क्रान्ति और समाज के निर्माण के बारे में भगतसिंह की सोच बिल्कुल स्पष्ट रूप से सामने आती है। जेल में रहकर अध्ययन करते हुये भगत सिंह वैज्ञानिक समाजवाद को अपना चुके थे और अपने अन्तिम दिनों में रूसी क्रान्तिकारी नेता लेनिन का जीवन परिचय पढ़ रहे थे। वह सोवियत यूनियन में हुई समाजवादी सर्वहारा क्रान्ति से अत्यधिक प्रभावित थे। इसका अन्दाज़ा जेल से उनके द्वारा लिखे गये एक पत्र से लगाया जा सकता है, "लेनिन-दिवस के अवसर पर हम सोवियत रूस में हो रहे महान अनुभव और साथी लेनिन की सफलता को आगे बढ़ाने के लिये अपनी दिली मुबारक़बाद भेजते हैं। हम अपने को विश्व-क्रान्तिकारी आन्दोलन से जोड़ना चाहते हैं। मज़दूर राज की जीत हो।"

भगतसिंह और उनके साथी कैसी आज़ादी की बात कर रहे थे और कैसा समाज चाहते थे उसकी एक झलक अदालत में दिये गये उनके इस बयान में भी देखने को मिलती है,

"क्रान्ति से हमारा अभिप्राय है : अन्याय पर आधारित मौजूदा समाज व्यवस्था में आमूल परिवर्तन।

"समाज का मुख्य अंग होते हुए भी आज मज़दूरों को उनके प्राथमिक अधिकारों से वंचित रखा जा रहा है और उनकी गाढ़ी कमाई का सारा धन शोषक पूँजीपति हड़प जाते हैं। दूसरों के अन्नदाता किसान आज अपने परिवार सहित दाने-दाने के लिये मुहताज हैं। दुनियाभर के बाज़ारों को कपड़ा मुहैया करने वाला बुनकर अपने तथा अपने बच्चों के लिए तन ढकनेभर को भी कपड़ा नहीं पा रहा है। सुन्दर महलों का निर्माण करने वाले राजगीर, लोहार तथा बढ़ई स्वयं गन्दे बाड़ों में रहकर ही अपनी जीवन लीला समाप्त कर जाते हैं। इसके विपरीत समाज के जोंक शोषक पूँजीपति ज़रा-ज़रा-सी बातों के लिये लाखों का वारा-न्यारा कर देते हैं।

"यह भयानक असमानता और ज़बरदस्ती लादा गया भेदभाव दुनिया को एक बहुत बड़ी उथल-पुथल की ओर लिये जा रहा है। यह स्थिति अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सकती। स्पष्ट है कि आज का धनिक समाज एक भयानक ज्वालामुखी के मुख पर बैठकर रंगरेलियाँ मना रहा है और शोषकों के मासूम बच्चे तथा करोड़ों शोषित लोग एक भयानक खस्त्र की कगार पर चल रहे हैं।

"सभ्यता का यह प्रसाद यदि समय रहते सँभाला न गया तो शीघ्र ही चरमराकर बैठ जायेगा। देश को एक आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। और जो लोग इस बात को महसूस करते हैं उनका कर्तव्य है कि साम्यवादी सिद्धान्तों पर समाज का पुनर्निर्माण करें। जब तक यह नहीं किया जाता और मनुष्य द्वारा मनुष्य का तथा एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण, जिसे साम्राज्यवाद कहते हैं, समाप्त नहीं कर दिया जाता तब तक मानवता को उसके क्लेशों से छुटकारा मिलना असम्भव है...।"

व्यवस्था में जिस आमूल परिवर्तन की बात भगतसिंह कर रहे थे उसका अर्थ था एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण जहाँ एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के शोषण को असम्भव बना दिया जाये। वह एक ऐसे समाज के निर्माण का सपना देख रहे थे जहाँ सारे सम्बन्ध समानता पर आधारित हों और हर व्यक्ति को उसकी मेहनत का पूरा हक़ मिले। इसी क्रम में उस समय सत्ता हस्तानान्तरण के लिये बेचैन और जनता की स्वत:स्फूर्त शक्ति को अपने राजनीतिक फ़ायदे के लिये इस्तेमाल कर रही कांग्रेस के बारे में भगतसिंह का कहना था कि सत्ता हस्तानान्तरण से दलित-उत्पीड़ित जनता के जीवन में कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा जब तक एक देश द्वारा दूसरे देश और एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के शोषण का समर्थन करने वाली व्यवस्था को धवस्त करके एक समानतावादी व्यवस्था की नींव नहीं रखी जायेगी। उनका मानना था कि तब तक मेहनतकश जनता का संघर्ष चलता रहेगा। आज 66 साल के पूँजीवादी शासन में लगातार बढ़ रही जनता की बदहाली और शोषण अत्याचारों की घटनाओं से भगतसिंह की बातें सही सिद्ध हो चुकी है। भगत सिंह और उनके साथियों ने फाँसी से तीन दिन पहले 20 मार्च 1931 को गवर्नर को लिखे गए पत्र में कहा था, **"यह लड़ाई तब तक चलती रहेगी जब तक कि शक्तिशाली व्यक्तियों ने (भारतीय) जनता और श्रमिकों की आय पर अपना एकाधिकार कर रखा है चाहे एसे व्यक्ति अंग्रेज पूँजीपति और अंग्रेज या सर्वथा भारतीय ही हों, उन्होंने आपस में मिलकर एक लूट जारी कर रखी है। चाहे शुद्ध भारतीय पूँजीपतियों द्वारा ही निर्धनों का खून चूसा जा रहा हो तो भी इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता"**

भगतसिंह मज़दूरों के क्रान्तिकारी संघर्ष के मार्क्सवादी सिद्धान्त के क़रीब पहुँच चुके थे और उन्होंने एक संगठित मज़दूर आन्दोलन के माधयम से क्रान्तिकारी परिवर्तन के विचारों को जन-जन तक पहुँचाने का नौजवानों से आह्वान किया था। 19 अक्टूबर 1929 को जेल से विद्यार्थियों के नाम लिखे गये अपने पत्र में भगतसिंह ने कहा था, **"नौजवानों को क्रान्ति का यह सन्देश देश के कोने-कोने में पहुँचाना है, फ़ैक्ट्री-कारखानों के क्षेत्रों में, गन्दी बस्तियों और गाँवों की जर्जर झोपड़ियों में रहने वाले करोड़ों लोगों में इस क्रान्ति की अलख जगानी होगी जिससे आज़ादी आयेगी और तब एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण असम्भव हो जायेगा।"** वह सिर्फ़ साम्राज्यवादी शोषण का ही विरोध नहीं करते थे, बल्कि उनका मानना था कि जब तक समाज असमानता पर खड़ा रहेगा तब तक मेहनतकश जनता की स्थिति नहीं बदल सकती, **"स्वतन्त्रा प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। श्रमिक वर्ग ही समाज का वास्तविक पोषक है, जनता की सर्वोपरि सत्ता की स्थापना श्रमिक वर्ग का अन्तिम लक्ष्य है।"**

भगतसिंह ने अपने सभी विचारों में व्यवस्था परिवर्तन और आर्थिक एवं राजनीतिक क्रान्ति खड़ी करने के लिये जनता को जागरुक करने और मेहनकश वर्ग को संगठित करने के लिये वर्ग-चेतना के विकास पर जोर दिया था। भगतसिंह के शब्दों में, **"संगठनबद्ध हो जाओ। स्वयं कोशिशें किये बिना कुछ भी न मिल सकेगा। संगठनबद्ध हो अपने पैरों पर खड़े होकर पूरे समाज को चुनौती दो।... यह पूँजीवादी नौकरशाही तुम्हारी गुलामी का असली करण है। तुम असली सर्वहारा हो... संगठनबद्ध हो जाओ। तुम्हारी कुछ हानि न होगी। बस गुलामी की जंज़ीरें कट जायेंगी। उठो, और वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध बग़ावत खड़ी कर दो। धीरे-धीरे होने वाले सुधारों से कुछ नहीं बन सकेगा। सामाजिक आन्दोलन से क्रान्ति पैदा कर दो तथा राजनीतिक और आर्थिक क्रान्ति के लिये कमर कस लो। तुम ही देश के मुख्य आधार हो, वास्तविक शक्ति हो...।"**

सत्ता हथियाने के लिये लोगों को जाति और धर्म के नाम पर आपस में लड़ा कर अपना राजनीतिक फ़ायदा उठाने वाले लोगों का भी भगतसिंह ने खुला विरोध किया है। आपने आरम्भिक दिनों में लिखे गये लेख 'अछूत का सवाल' और जेल में अपने अन्तिम दिनों में लिखे गये 'मैं नास्तिक क्यों हूँ' लेख में भगतसिंह ने असमानता का पक्ष पोषण करने वाली अनेक धार्मिक कुरीतियों तथा और जातीय असमानताओं तथा छुआ-छूत का खुलकर विरोध किया। ग़रीब मेहनतकश जनता को उनकी बदहाली के बारे में बेख़बर रखने के लिये धर्म और जाति का भ्रम फैलाने वाली साम्प्रदायिक ताक़तों और शोषण सम्बन्धों तथा मालिकों के हितों की हिफ़ाजत करने वाली राजनीति के बारे में भगतसिंह ने सीधे कहा था, **"लोगों को परस्पर लड़ने से रोकने के लिए वर्ग-चेतना की ज़रूरत है। ग़रीब मेहनतकशों और किसानों को स्पष्ट समझा देना चाहिए कि तुम्हारे असली दुश्मन पूँजीपति हैं, इसलिए तुम्हें इनके हथकण्डों से बचकर रहना चाहिए और इनके हत्थे चढ़कर कुछ न करना चाहिए। ... कलकत्ते के दंगों में एक बात बहुत खुशी की सुनने में आयी। वह यह कि वहाँ दंगों में ट्रेड यूनियनों के मज़दूरों ने हिस्सा नहीं लिया और न ही वे परस्पर गुत्थमगुत्था ही हुए, वरन सभी हिन्दू-मुसलमान बड़े प्रेम से क़ारख़ानों आदि में उठते-बैठते और दंगे रोकने के यत्न करते रहे। यह इसलिए कि उनमें वर्ग-चेतना थी और वे अपने वर्गहित को अच्छी तरह पहचानते थे। वर्ग-चेतना का यही सुन्दर रास्ता है, जो साम्प्रदायिक दंगे रोक सकता है। 1914-15 के शहीदों ने धर्म को राजनीति से अलग कर दिया था। वे समझते थे कि धर्म व्यक्ति का व्यक्तिगत मामला है, इसमें दूसरे का कोई दख़ल नहीं। न ही इसे राजनीति में घुसाना चाहिए, क्योंकि यह सरबत को मिलकर एक जगह काम नहीं करने देता।"**

जिस तरह मज़दूरों और किसानों को जातियों और धर्मों के नाम पर बाँटा जाता है, और उनकी एकजुट ताक़त को कमज़ोर किया जाता रहा है, वह वास्तव में पूँजीवादी सत्ता की मदद करता है जो कि पूँजी के हितों पर आपस में मज़दूरों के विरुद्ध एकजुट होते हैं। एक ओर सच्चाई यह है कि पूरे देश के हर जाति और हर धर्म के मज़दूरों की सबसे बड़ी आबादी एक जैसी स्थिति में काम करने के लिये मजबूर है, एक जैसी स्थिति में मज़दूर बस्तियों में रहती है। ऐसे में जाति और धर्म की पुरानी कुरीतियाँ टूट रही हैं, लेकिन अभी भी कई जगह मालिक और पूँजीपतियों के दलाल नेता हिन्दू-मुसलमान, बिहार-महाराष्ट्र या ऊँची और नीची जाति जैसे जनविरोधी नारे लगाकर मज़दूरों की ताक़त को कमज़ोर करने में स्कल हो जाते हैं। व्यवस्था परिवर्तन के लिये क्रान्ति का जो आह्वान भगतसिंह ने किया था उसका उद्धेश्य था हर प्रकार के शोषण को अन्त करना और हर असमानता सूचक और लोगों के बीच भेदभाव करने वाली धार्मिक और जातीय रूढ़ियों का समाज से समूल नाश करना, और इनके आधार पर किये जाने वाले साम्प्रदायिक जाति-छुआछूत-शोषण जैसी हर चीज का अन्त करना। भगतसिंह ने कहा था, "धार्मिक अन्धविश्वास और कट्टरपन हमारी प्रगति में बहुत बड़े बाधक हैं। वे हमारे रास्ते के रोड़े साबित हुए हैं और हमें उनसे हर हालत में छुटकारा पा लेना चाहिये।" "जो चीज़ आज़ाद विचारों को बरदाश्त नहीं कर सकती उसे समाप्त हो जाना चाहिए।" "इस काम के लिये सभी समुदायों के क्रन्तिकारी उत्साह वाले नौजवानों की आवश्यकता है।"

धार्मिक कट्टरपन्थी राजनीति का विरोध करने के साथ ही भगतसिंह सामाजिक मूल्यों में व्याप्त धर्म के यथास्थितिवादी और भाग्यवादी विचारों एवं स्वर्ग-नर्क जैसे अन्धविश्वासों का भी विरोध करते थे। भगतसिंह का कहना था, **"धर्म का रास्ता अकर्मण्यता का रास्ता है, सब कुछ भगवान के सहारे छोड़ हाथ पे हाथ रखकर बैठ जाने का रास्ता है, निष्काम कर्म की आड़ में भाग्यवाद की घुट्टी पिलाकर देश के नौजवानों को सुलाने का रास्ता। मैं इस जगत को मिथ्या नहीं मानता। मेरे लिए इस धरती को छोड़ कर न कोई दूसरी दुनिया है न स्वर्ग। आज थोड़े-से व्यक्तियों ने अपने स्वार्थ के लिए इस धरती को नरक बना डाला है। शोषकों तथा दूसरों को गुलाम रखने वालों को समाप्त कर हमें इस पवित्र भूमि पर फिर से स्वर्ग की स्थापना करनी पड़ेगी।"**

आज जहाँ एक ओर देश की अर्थव्यवस्था लगातार उछाल पर है वहीं दूसरी ओर देश की 80 फ़ीसदी मेहनत-मज़दूरी करने वाली आबादी बेरोज़गारी और घोर शोषण की हालत में जीने के लिये मजबूर है और देश की 77 फ़ीसदी आबादी रोजाना 20 रुपयों से भी कम आमदनी पर जी रही है। वर्तमान पूँजीवादी सत्ता द्वारा लगातार ठेकाकरण को बढ़ावा देने और श्रम कानूनों को तिलांजलि देने के बाद आज पूरे देश की 93 फ़ीसदी मज़दूर आबादी बिना किसी श्रम क़ानून के ठेके पर काम कर रही है। ऐसी स्थिति में मज़दूरों के शोषण की नींव पर खड़ी वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था को चुनौती देने के लिये भगतसिंह के विचार आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने कि तब थे जब कि भारत ब्रिटेन का उपनिवेश था। भगतसिंह का नाम आज भी भारत के हर कोने में जनता पर होने वाले जुल्म-अन्याय और शोषण के विरुद्ध जनता की आवाज़ का उसी स्तर पर प्रतिनिधित्व करता है जितना कि तब करता था। यही कारण है कि आज कई दशाब्दियाँ बीत जाने के बाद भी वर्तमान सत्ता उनके विचारों को जनता की नज़रों से छुपाकर रखने के पूरे प्रयास करती है। और इसी डर से उस समय सत्ता पर क़ाबिज़ साम्राज्यवादी सत्ता और सत्ता हस्तानान्तरण की माँग कर रही कांग्रेस भी पूरे देश में बढ़ रहे उनके विचारों से घबरा गई थी।

अन्त में भगतसिंह के शब्दों में, **"जब गतिरोध की स्थिति लोगों को अपने शिकंजे में जकड़ लेती है तो किसी भी प्रकार की तब्दीली से वे हिचकिचाते हैं। इस जड़ता और निष्क्रियता को तोड़ने के लिये एक क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की ज़रूरत होती है, अन्यथा पतन और बर्बादी का वातावरण छा जाता है।... लोगों को गुमराह करने वाली प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ जनता को ग़लत रास्ते पर ले जाने में सफल हो जाती हैं। इससे इन्सान की प्रगति रुक जाती है और उसमें गतिरोध आ जाता है। इस परिस्थिति को बदलने के लिये यह ज़रूरी है कि क्रान्ति की स्पिरिट ताज़ा की जाये, ताकि इन्सानियत की रूह में हरकत पैदा हो।"**

"क्रांति मानवजाति का जन्मजात अधिकार है जिसका अपहरण नहीं किया जा सकता।... प्रगति के समर्थक प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य है कि वह पुराने विश्वास से सम्बन्धित हर बात की आलोचना करे, उसमें अविश्वास करे और उसे चुनौती दे।... निर्माण के लिए ध्वंस ज़रूरी ही नहीं, अनिवार्य है।"

पेरिस कम्यून की वर्षगाँठ (18 मार्च) के अवसर पर

कम्यून ज़िन्दाबाद!

पेरिस कम्यून की महान शिक्षाएँ

(पिछले वर्ष 'मज़दूर बिगुल' के मार्च अंक से हमने "पेरिस कम्यून : पहले मज़दूर राज की सचित्र कथा" का सिलसिलेवार प्रकाशन शुरू किया था जिसकी अब तक 9 किस्तें छप चुकी हैं और पाठकों ने इसे काफ़ी पसन्द किया है। विभिन्न कारणों से अभी कुछ अंकों तक इसका प्रकाशन स्थगित है, लेकिन इसकी शेष किस्तें दो या तीन अंकों के बाद प्रकाशित की जायेंगी। इस बार कम्यून की वर्षगाँठ के अवसर पर एक महत्वपूर्ण लेख प्रस्तुत है।–सं.)

सत्ता हासिल करने के बाद सर्वहारा वर्ग को हर सम्भव कोशिश करनी चाहिये कि उसके राज्य के उपकरण समाज के सेवक से समाज के स्वामी के रूप में न बदल जायें। सर्वहारा राज्य के विभिन्न अंगों-उपांगों में काम करने वाले सभी कार्यकर्ताओं के लिए ऊँची तनख़्वाहें पाने और एकाधिक पदों पर एक साथ काम करते हुए एकाधिक तनख्वाहें पाने की व्यवस्था समाप्त कर दी जानी चाहिये, और इन कार्यकर्ताओं को किसी विशेष सुविधा का लाभ नहीं उठाना चाहिए।

सर्वहारा अधिनायकत्व के राज्य-उपकरणों के अध:पतन को कैसे रोका जाये? इस मामले में पेरिस कम्यून ने कई अन्वेषणात्मक कदम उठाये और कई एक ऐसी कार्रवाइयाँ कीं, जो हालाँकि अन्तरिम (या आज़माइशी) थीं, लेकिन जिनका गम्भीर और दूरगामी महत्व था। इन कार्रवाइयों से हमारे सोचने के लिए कुछ महत्वपूर्ण सूत्र सामने आते हैं।

एंगेल्स के अनुसार, राज्य और राज्य के उपकरणों के, समाज के सेवक से समाज के स्वामी की स्थिति में इस रूपान्तरण के ख़िलाफ़–जो सभी पूर्ववर्ती राज्यों में अपरिहार्यत: घटित हुआ है–कम्यून ने दो अचूक साधनों का इस्तेमाल किया। पहला यह कि, इसने प्रशासकीय, न्यायिक और शैक्षिक–सभी पदों पर सभी सम्बन्धित लोगों के सार्विक मताधिकार के आधार पर चुनाव के द्वारा नियुक्तियाँ कीं और इस शर्त के साथ कि कभी भी उन्हीं निर्वाचकों द्वारा (चुने गये व्यक्ति को) वापस भी बुलाया जा सकता था। और दूसरा यह कि, ऊँचे और निचले दर्जे के सभी पदाधिकारियों को वही वेतन मिलता था जो अन्य मज़दूरों को। कम्यून द्वारा किसी को दी जाने वाली सबसे ऊँची तनख्वाह 6,000 फ्रैंक थी। इस तरह, प्रतिनिधि संस्थाओं के प्रतिनिधियों पर लगाये गये बाध्यताकारी अधिदेशों के अतिरिक्त, (उपरोक्त दो निर्णयों के द्वारा) पदलोलुपता और कैरियरवाद के रास्ते में एक प्रभावी अवरोधक लगाया गया।

पेरिस कम्यून में जनसमुदाय वास्तविक स्वामी था। कम्यून जबतक अस्तित्व में था, जनसमुदाय व्यापक पैमाने पर संगठित था और सभी अहम राजकीय मामलों पर लोग अपने-अपने संगठनों में विचार-विमर्श करते थे। प्रतिदिन क्लब-मीटिंगों में लगभग 20,000 ऐक्टिविस्ट हिस्सा लेते थे जहाँ वे विभिन्न छोटे-बड़े सामाजिक और राजनीतिक मसलों पर अपने प्रस्ताव या आलोचनात्मक विचार रखते थे। वे क्रान्तिकारी समाचारपत्रों और पत्रिकाओं में लेख और पत्र लिखकर भी अपनी आकांक्षाओं और माँगों को अभिव्यक्त करते थे। जनसमुदाय का यह क्रान्तिकारी उत्साह और यह पहलक़दमी कम्यून की शक्ति का स्रोत थी।

कम्यून के सदस्य जनसमुदाय के विचारों पर विशेष ध्यान देते थे, इसके लिए लोगों की विभिन्न बैठकों में हिस्सा लेते थे और उनके पत्रों का अध्ययन करते थे। कम्यून की कार्यकारिणी समिति के महासचिव ने कम्यून के सेक्रेटरी को पत्र लिखते हुए कहा था:"हमें प्रतिदिन, ज़ुबानी और लिखित–दोनों ही रूपों में बहुत सारे प्रस्ताव प्राप्त होते हैं जिनमें से कुछ, व्यक्तियों द्वारा और कुछ क्लबों और इण्टरनेशनल की शाखाओं द्वारा भेजे गये होते हैं। ये प्रस्ताव प्राय: उत्तम कोटि के होते हैं और कम्यून द्वारा इनपर विचार किया जाना चाहिए।" वास्तव में, कम्यून जनसमुदाय के प्रस्तावों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करता था और उन्हें स्वीकार करता था। कम्यून की बहुत-सी महान आज्ञप्तियाँ जनसमुदाय के प्रस्तावों पर आधारित थीं, जैसे कि राज्य के पदाधिकारियों के लिए ऊँची तनख़्वाहों की व्यवस्था समाप्त करना, लगान के बकायों को मंसूख करना, धर्मनिरपेक्ष शिक्षा-व्यवस्था लागू करना, नानबाइयों के लिए रात की पाली में काम करने की व्यवस्था समाप्त करना, वगैरह-वगैरह।

जनसमुदाय कम्यून और इसके सदस्यों के कार्यों की सावधानीपूर्वक जाँच-पड़ताल भी करता था। तृतीय प्रान्त के कम्युनल क्लब का एक प्रस्ताव कहता है : "जनता ही स्वामी है... यदि जिन लोगों को तुमने चुना है वे ढुलमुलपन का या अनियंत्रित होने का संकेत देते हैं, तो उन्हें आगे की ओर धक्के दो ताकि हमारा लक्ष्य सिद्ध हो सके–यानी हमारे अधिकारों के लिए जारी संघर्ष अपना लक्ष्य प्राप्त कर सके, गणराज्य का सुदृढ़ीकरण हो सके, ताकि न्यायसंगति का लक्ष्य विजयी हो सके।" प्रतिक्रान्तिकारियों, भगोड़ों और ग़द्दारों के खिलाफ़ दृढ़ कदम न उठाने के लिए, स्वयं द्वारा (कम्यून द्वारा) पारित आज्ञप्तियों को तत्काल लागू नहीं करने के लिए और कम्यून के सदस्यों के बीच एकता के अभाव के लिए जनसमुदाय ने कम्यून की आलोचना की। उदाहरण के तौर पर, 'ल पेर दुशेन' अख़बार के 27 अप्रैल के अंक में प्रकाशित एक पाठक का पत्र कहता है : "कृपया समय-समय पर कम्यून के सदस्यों को धक्के लगाते रहें, उनसे कहें कि वे सो न जाया करें, और अपनी स्वयं की आज्ञप्तियों को लागू करने में टालमटोल न करें। उन्हें अपने आपसी झगड़ों को समाप्त कर लेना चाहिये क्योंकि सिर्फ़ विचारों की एकता के ज़रिये ही वे, अधिक शक्ति के साथ, कम्यून की हिफ़ाज़त कर सकते हैं।"

उन जनप्रतिनिधियों को, जिन्होंने जनता के हितों के साथ विश्वासघात किया हो, बदल देने और वापस बुला लेने के प्रावधान खोखले शब्द-मात्र नहीं थे। कम्यून ने, वस्तुत: ब्लांशे को कम्यून की सदस्यता से वंचित कर दिया था क्योंकि वह पादरी, व्यापारी और खुफ़िया एजेण्ट रहा था। वह पेरिस पर कब्ज़े के दौरान 'नेशनल गार्ड' की कतारों में छलपूर्वक घुस गया था और जालसाज़ी करके फ़र्ज़ी नाम से कम्यून का सदस्य बन गया था। कम्यून ने इस तथ्य के मद्देनज़र क्लूसेरे को सैनिक प्रतिनिधि के ओहदे से वंचित कर दिया कि 'सैनिक प्रतिनिधि की असावधानी और लापरवाही से इस्सी दुर्ग लगभग खो दिया गया था।' इसके पहले, लूइये को भी पदच्युत किया जा चुका था और 'नेशनल गार्ड' की केन्द्रीय कमेटी द्वारा गिरफ़्तार किया जा चुका था।

पेरिस कम्यून ने राज्य के पदाधिकारियों के विशेषाधिकारों को समाप्त करने में भी दृढ़ता का परिचय दिया और, तनख़्वाहों के मामले में इसने ऐतिहासिक अर्थवत्ता से युक्त एक महत्वपूर्ण सुधार किया।

हम जानते हैं कि शोषक वर्गों के अधीनस्थ राज्य अपने अधिकारियों को निरपवाद रूप से उत्तम कोटि की जीवन-स्थितियाँ और बहुतेरे विशेषाधिकार प्रदान करते हैं ताकि उन्हें जनता को कुचल डालने वाला अधिपति बना दिया जाये। अपने ऊँचे ओहदों पर बैठे हुए, मोटी तनख़्वाहें उठाते हुए और लोगों पर धौंस जमाते हुए–यही है शोषक वर्गों के अधिकारियों की तस्वीर। दूसरे फ्रांसीसी साम्राज्य के काल को लें। उस दौरान अधिकारियों की सालाना तनख़्वाहें इस प्रकार थीं : नेशनल असेम्बली के प्रतिनिधि के लिए 30,000 फ्रैंक; मंत्री के लिए 50,000 फ्रैंक; प्रिवी कौंसिल के सदस्य के लिए एक लाख फ्रैंक; स्टेट कौंसिलर के लिए 1 लाख 30 हजार फ्रैंक। यदि कोई व्यक्ति कई आधिकारिक पदों पर एक साथ काम करता था तो वह इकट्ठे कई तनख़्वाहें उठाता था। उदाहरण के लिए, नेपोलियन तृतीय का प्रिय पात्र राउहेर एक ही साथ नेशनल असेम्बली का प्रतिनिधि, प्रिवी कौंसिल का सदस्य और स्टेट का कौंसिलर–तीनों था। उसकी कुल सालाना तनख़्वाह 2 लाख 60 हजार फ्रैंक थी। पेरिस के एक कुशल मज़दूर को इतनी रकम कमाने के लिए 150 वर्षों तक काम करना पड़ता। जहां तक खुद नेपोलियन तृतीय की बात थी, राज्य के ख़ज़ाने से उसे सालाना 2 करोड़ 50 लाख फ्रैंक दिये जाते थे। अन्य राजकीय आर्थिक सहायताओं को मिलाकर उसकी कुल सालाना आमदनी तीन करोड़ फ्रैंक थी।

फ्रांसीसी सर्वहारा इस स्थिति से घृणा करता था। पेरिस कम्यून की स्थापना के पहले भी, उसने कई मौकों पर यह माँग की थी कि अधिकारियों की ऊँची तनख़्वाहों की व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाये। कम्यून की स्थापना के साथ ही, मेहनतकश अवाम की यह चिरकालिक आकांक्षा पूरी हो गई। 1 अप्रैल को यह प्रसिद्ध आज्ञप्ति जारी हुई कि किसी भी पदाधिकारी को दी जाने वाली सबसे ऊँची सालाना तनख़्वाह 6,000 फ्रैंक से अधिक नहीं होनी चाहिए। आज्ञप्ति के अनुसार : पहले, "सार्वजनिक संस्थाओं के ऊँचे ओहदे, ऊँची तनख़्वाहों के कारण, प्रलोभन की चीज माने जाते थे और संरक्षण के रूप में उन्हें किसी को दिया जाता था।" लेकिन "एक सच्चे जनवादी गणराज्य में दायित्वमुक्त, आराम की नौकरियों या ऊँची तनख़्वाहों के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता।" 6000 फ्रैंक की रकम उस समय के एक कुशल फ्रांसीसी मज़दूर की सालाना मज़दूरी की कुल रकम के बराबर थी। प्रसिद्ध वैज्ञानिक हक्सले के अनुसार, यह रकम लन्दन मेट्रोपोलिटन स्कूल बोर्ड के एक सेक्रेटरी की तनख्वाह के पांचवे हिस्से से भी कुछ कम थी।

पेरिस कम्यून ने अपने पदाधिकारियों द्वारा एक साथ कई तनख़्वाहें उठाने पर भी रोक लगा दी, और 19 मई के निर्णय के अनुसार : "इस बात का ध्यान रखते हुए कि कम्यून की व्यवस्था के अन्तर्गत, हर आधिकारिक पद के लिए निर्धारित पारिश्रमिक की राशि हर उस व्यक्ति के लिए सुचारु रूप से और सम्मानपूर्वक जीवनयापन लायक होनी चाहिये जो अपने दायित्वों को पूरा करता है... कम्यून यह प्रस्ताव पारित करता है : एक से अधिक पद पर काम करने के एवज़ में किसी तरह का अतिरिक्त पारिश्रमिक दिया जाना निषिद्ध है, कम्यून के जिन पदाधिकारियों को उनके सामान्य काम के अतिरिक्त कोई दूसरा ज़िम्मेदारी का काम सौंपा जायेगा, उन्हें कोई नया पारिश्रमिक पाने का अधिकार नहीं होगा।"

ऊँची तनख़्वाहों और एक से अधिक पदों के लिए तनख़्वाहों को समाप्त करने के साथ ही कम्यून ने कमतर तनख़्वाहों को बढ़ाने का भी काम किया ताकि वेतनमान में अन्तर को कम किया जा सके। उदाहरण के तौर पर डाकख़ाने को लें : कम तनख़्वाह वाले कर्मचारियों की पगार 800 फ्रैंक सालाना से बढ़ाकर 1200 फ्रैंक कर दी गयी जबकि 12,000 फ्रैंक सालाना की ऊँची तनख़्वाहों को आधा घटाकर 6,000 फ्रैंक कर दिया गया। कम तनख़्वाह वाले कर्मचारियों की आजीविका सुनिश्चित करने के लिए कम्यून ने त्वरित प्रावधान के द्वारा सभी आर्थिक कटौतियों और जुर्मानों पर भी रोक लगा दी।

विशेषाधिकारों, ऊँची तनख़्वाहों और एक साथ कई पदों के लिए कई तनख़्वाहों की समाप्ति से सम्बन्धित विनियमों के क्रियान्वयन में कम्यून के सदस्यों ने स्वयं मॉडल का काम

(पेज 9 पर जारी)

(पेज 8 से आगे)

किया। कम्यून के एक सदस्य थीस्ज को, जो डाकख़ाने का प्रभारी था, विनियमों के अनुसार 500 फ्रैंक माहवार की तनख़्वाह मिल सकती थी, पर वह सिर्फ 450 फ्रैंक लेने पर ही राज़ी हुआ। कम्यून के जनरल ब्रोब्लेवस्की ने स्वेच्छा से अधिकारी श्रेणी का अपना वेतन छोड़ दिया और एलिसे महल में दिये गये अपार्टमेण्ट में रहने से इंकार कर दिया। उसने घोषणा की : "एक जनरल की जगह उसके सैनिकों के बीच होती है।"

पेरिस कम्यून की कार्यकारिणी समिति ने जनरल की पदवी को समाप्त करने के लिए भी एक प्रस्ताव पारित किया। 6 अप्रैल के अपने प्रस्ताव में समिति ने कहा : "इस तथ्य के मद्देनज़र कि जनरल की पदवी नेशनल गार्ड के जनवादी संगठन के उसूलों के असंगत है... यह निर्णय लिया जाता है : जनरल की पदवी समाप्त की जाती है।" अफ़सोस की बात है कि यह निर्णय व्यवहार में लागू नहीं हो सका।

राज्य के नेता जो वेतन लेते थे वह एक कुशल मज़दूर के वेतन के बराबर होता था। अधिक काम करना उनका अनिवार्य कर्तव्य था, पर उन्हें अधिक वेतन लेने का या किसी भी तरह की विशेष सुविधा का कोई अधिकार नहीं था। यह एक अभूतपूर्व चीज थी। इसने 'सस्ती सरकार' के नारे को सच्चे अर्थों में यथार्थ में रूपान्तरित कर दिया। इसने तथाकथित राजकीय मामलों के संचालन के इर्दगिर्द निर्मित "रहस्य" और "विशिष्टता" के उस वातावरण को समाप्त कर दिया–जो शोषक वर्ग द्वारा जनता को मूर्ख बनाने के एक साधन के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। इसने राजकीय मामलों के संचालन को सीधे-सीधे एक मज़दूर के कर्तव्यों में बदल दिया और (राज्य के) पदाधिकारियों को 'विशेष औज़ारों' से काम लेने वाले मज़दूरों में रूपान्तरित कर दिया। पर इसकी महान अर्थवत्ता सिर्फ़ इसी बात में निहित नहीं है। भौतिक पुरस्कारों या लाभों के मामले में, इसने पदाधिकारियों के अध:पतन को रोकने वाली स्थितियों का निर्माण किया। लेनिन के अनुसार, "यह कदम, और साथ ही पदाधिकारियों के चुनाव और सभी सार्वजनिक अधिकारियों के हटा दिये जाने का सिद्धान्त तथा उन्हें "मालिक वर्ग" के मानकों या बुर्जुआ मानकों के बजाय सर्वहारा मानकों के अनुसार वेतन-भुगतान–यह मज़दूर वर्ग का आदर्श है।" वह आगे कहते हैं:

"सभी प्रतिनिधित्व भत्तों की, और अधिकारियों के सभी वित्तीय विशेषाधिकारों की समाप्ति, राज्य के सभी सेवकों का पारिश्रमिक 'मज़दूरों की तनख़्वाह' के स्तर तक घटा देना। यह बुर्जुआ जनवाद के सर्वहारा जनवाद में, उत्पीड़कों के जनवाद के उत्पीड़ित वर्गों के जनवाद में, रूपान्तरण को, राज्य के एक वर्ग विशेष द्वारा दमन के 'विशेष बल' से– उत्पीड़कों का दमन करने वाले, जनता की बहुसंख्या के–मज़दूरों और किसानों के 'सामान्य बल' में रूपान्तरण को, अन्य किसी चीज के मुकाबले अधिक स्पष्टता से प्रदर्शित करता है। और यही वह विशिष्ट ध्यानाकर्षक बिन्दु है, राज्य की समस्या से जुड़ा हुआ शायद वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण बिन्दु है, जिस पर मार्क्स के विचारों की पूरी तरह अनदेखी की गई है!... जो किया गया है वह यह कि इसके बारे में चुप्पी साध ली गयी है मानो यह पुराने ढंग के 'भोलेपन' का एक हिस्सा हो।"

और ठीक यही वह चीज है जो ख्रुश्चेवी संशोधनवादियों का नेतृत्वकारी गुट कर रहा है : उन्होंने पेरिस कम्यून के इस महत्वपूर्ण अनुभव की पूरी तरह उपेक्षा की है। वे विशेषाधिकारों के पीछे भागते हैं, अपने विशेषाधिकार प्राप्त ओहदों का इस्तेमाल करते हैं, सार्वजनिक गतिविधियों को निजी लाभ के मौकों में बदल देते हैं, जनता की मेहनत के फल हड़प जाते हैं और साधारण मज़दूरों और किसानों की तनख़्वाहों से दसियों गुना और कभी-कभी तो सैकड़ों गुना अधिक कमाई करते हैं। राजनीतिक अवस्थिति से लेकर जीवन-प्रणाली तक में, वे मेहनतकश अवाम से मुँह मोड़ चुके हैं और बुर्जुआ वर्ग और नौकरशाह पूँजीपति जो कुछ करते हैं, उसी की नकल करने लगे हैं। अपने शासन का सामाजिक आधार मज़बूत करने की कोशिश में, मोटी आमदनी और विशेषाधिकारों वाला एक सामाजिक संस्तर तैयार करने में, वे ऊँची तनख्वाहों, ऊँचे पुरस्कारों, ऊँची फीसों एवं वज़ीफ़ों का और धन कमाने के अन्य तरह-तरह के तरीकों का भी इस्तेमाल करते हैं। जनता की क्रान्तिकारी संकल्प शक्ति को पैसे से क्षरित करने की कोशिश में, वे "भौतिक प्रोत्साहनों" के बारे में बेतहाशा बातें करते हैं, रूबल को "शक्तिशाली संचालक शक्ति" बताते हैं और कहते हैं कि उन्हें 'लोगों को शिक्षित करने के लिए रूबलों का इस्तेमाल करना' चाहिए। ख्रुश्चेवी संशोधनवादियों की इन हरकतों की तुलना पेरिस कम्यून के "भोलेपन" से (जैसाकि वे कहते हैं) करने पर कोई भी व्यक्ति आसानी से देख सकता है कि जनता के सेवक और जनता के स्वामी होने का क्या मतलब होता है, राज्य के अवयवों को समाज के सेवक से समाज के स्वामी में रूपान्तरित कर दिये जाने का क्या अर्थ है। एंगेल्स लिखते हैं, "क्या तुम जानना चाहते हो कि यह अधिनायकत्व कैसा होता है? पेरिस कम्यून को देखो। यह सर्वहारा का अधिनायकत्व था।" इसी प्रकार हम कह सकते हैं : क्या तुम जानना चाहते हो कि सर्वहारा का अध:पतित अधिनायकत्व कैसा होता है? तो ख्रुश्चेवी संशोधनवादी गुट के शासन के अन्तर्गत सोवियत संघ के "समूची जनता के राज्य" को देखो।

सर्वहारा वर्ग को दुश्मन की नकली शान्ति वार्ताओं के प्रति सतर्क रहना चाहिये जबकि वह वास्तव में युद्ध की तैयारी कर रहा होता है, और प्रतिक्रान्तिकारी दोहरे रणकौशल से निपटने के लिए क्रान्तिकारी दोहरे रणकौशल का इस्तेमाल करना चाहिये।

पेरिस कम्यून ने वसीयत के तौर पर हमारे लिए कई महान और प्रेरणादायी शिक्षाएँ छोड़ी हैं। इनमें से बहुतेरी सकारात्मक रूप से मूल्यवान हैं; और कुछ अन्य कड़वे अनुभवों की शिक्षाएँ हैं।

कम्यून के नेतृत्व में ब्लांकीवादी और प्रूधोंवादी शामिल थे। इनमें से कोई भी सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी नहीं थी। इनमें से किसी ने भी मार्क्सवाद को समझा नहीं था और किसी के पास सर्वहारा क्रान्ति को नेतृत्व देने का अनुभव नहीं था। सर्वहारा वर्ग द्वारा आगे ठेल दिये जाने पर उन्होंने कुछ चीज़ों को सही ढंग से अंजाम दिया, लेकिन अपनी राजनीतिक चेतना की कमी के कारण उन्होंने बहुतेरी ग़लतियाँ भी कीं। इनमें से एक प्रधान ग़लती यह थी कि वे दुश्मन की शान्ति वार्ताओं की धोखाधड़ी के शिकार हो गये जबकि वह वास्तव में युद्ध की तैयारी कर रहा था। उन्होंने दुश्मन को दीवार से जकड़ तो दिया लेकिन अपने विजयी आक्रमण का दबाव देश के भीतर बनाये नहीं रख सके और दुश्मन का पूरी तरह से सफाया नहीं कर सके। उन्होंने दुश्मन को उसकी झूठी शान्ति वार्ताओं की आड़ में दम ले लेने की मोहलत दे दी और इस अन्तराल में उसे प्रत्याक्रमण के लिए अपनी सेनाओं को पुनर्संगठित कर लेने का मौका मिल गया। उनके पास अपनी क्रान्तिकारी विजय को विस्तार देने का अवसर था, पर उन्होंने इसे अपनी उँगलियों के बीच से फिसल जाने दिया....

जब वर्साय अपने छुरे तेज कर रहा था, तो पेरिस मतदान में लगा हुआ था, जब वर्साय युद्ध की तैयारी कर रहा था, तो पेरिस वार्ताएँ कर रहा था। नतीजा यह हुआ कि वर्साय के दस्यु-दल अपने कसाइयों के छुरों के साथ पेरिस में घुस गये। उन्होंने अपने कब्ज़े में आये कम्यून के सदस्यों और सैनिकों को गोली मार दी; उन्होंने चर्च में शरण लिये हुए लोगों को गोली मार दी; उन्होंने अस्पतालों में पड़े घायल सैनिकों को गोली मार दी; उन्होंने बुज़ुर्ग मज़दूरों को यह कहते हुए गोली मार दी कि इन लोगों ने बार-बार बग़ावतें की हैं और ये खाँटी अपराधी हैं; उन्होंने स्त्री-मज़दूरों को यह कहते हुए गोली मार दी कि ये "स्त्री अग्नि-बम" हैं और यह कि ये स्त्रियों जैसी सिर्फ़ तभी लगती हैं जब "मृत होती हैं"; उन्होंने बाल मज़दूरों को यह कहकर गोली मार दी कि "वे बड़े होकर बाग़ी बनेंगे।" यह हत्याकाण्ड, जिसे वे "शिकार करना" कहते थे, पूरे जून के महीने भर चलता रहा। पेरिस लाशों से भर गया, सैन ख़ून की नदी बन गई और कम्यून इस लहू के समन्दर में डुबो दिया गया। तीस हज़ार से अधिक लोग इस जनसंहार में मारे गये और एक लाख से अधिक लोग बन्दी बना लिये गये या निर्वासित कर दिये गये। वर्साय ने पेरिस की 'सदाशयता' और 'दरियादिली' का यह सिला दिया। इसकी झूठी

शान्ति वार्ताओं और युद्ध की वास्तविक तैयारियों की चालबाज़ी की यह अन्तिम परिणति थी। यह रक्त से लिखी गई एक कड़वी शिक्षा थी। इसने हमें सिखाया कि सर्वहारा वर्ग को क्रान्ति को अन्त तक चलाना होगा; कि भागते हुए डकैतों का पीछा किया जाना चाहिये और उन्हें तबाह कर देना चाहिये, कि डूबते हुए चूहों को पीट-पीटकर मार डालना चाहिये; कि दुश्मन को अपना दम फिर से हासिल कर लेने का मौका कतई नहीं दिया जाना चाहिए।

यदि यह कहा जा सकता है कि 95 वर्षों पहले पेरिस कम्यून के अधिकांश सदस्य थियेर की नकली शान्ति वार्ताओं और युद्ध की वास्तविक तैयारियों के कुचक्र को सही समय पर भाँप नहीं सके, और यह कि पर्याप्त अनुभव और समझदारी की कमी के कारण ऐसा हुआ, तो आज, जब ख्रुश्चेवी संशोधनवादी अमेरिकी साम्राज्यवाद की फ़र्ज़ी शान्ति और वास्तविक आक्रमण की नीति की सेवा में सबकुछ कर रहे हैं, वह समझदारी की कमी का मामला निश्चित रूप से नहीं है। ख्रुश्चेवी संशोधनवादी पूरी तरह ग़द्दारी की अवस्थिति पर जा खड़े हुए हैं और प्रतिक्रान्तिकारी दोहरे रणकौशल द्वारा सर्वहारा के क्रान्तिकारी आन्दोलन और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का गला घोंटने की कोशिश में अमेरिकी साम्राज्यवादियों के साथ सहयोग कर रहे हैं। फिर भी, समय आगे बढ़ रहा है, जनता आगे बढ़ रही है और क्रान्ति आगे बढ़ रही है। क्रान्तिकारी जनता ज़्यादा से ज़्यादा अच्छे ढंग से यह समझती जा रही है कि प्रतिक्रान्तिकारी दोहरे रणकौशल के विरोध में क्रान्तिकारी दोहरे रणकौशल का किस प्रकार इस्तेमाल किया जाता है और क्रान्ति को अन्त तक कैसे चलाया जाता है। अपने सभी किस्म के प्रतिक्रान्तिकारी दोहरे रणकौशलों के साथ साम्राज्यवादी, संशोधनवादी और सभी प्रतिक्रियावादी जनता द्वारा अन्तिम तौर पर, समूचा का समूचा, इतिहास के कूड़ेदानी के हवाले कर दिये जायेंगे।

पेरिस कम्यून की इक्कीसवीं वर्षगांठ के अवसर पर, एंगेल्स ने लिखा था: "बुर्जुआ वर्ग को अपनी 14 जुलाई या 22 सितम्बर का उत्सव मनाने दो। सर्वहारा वर्ग का त्यौहार तो सभी जगह हमेशा 18 मार्च ही होगा।"

आज, जब हम सर्वहारा वर्ग का त्यौहार–पेरिस कम्यून के विद्रोह की 95वीं वर्षगाँठ मना रहे हैं, दुनिया पर एक नज़र डालने पर एक महान क्रान्तिकारी परिस्थिति दिखाई देती है जब "चारों महासागर उफन रहे हैं, बादल और जल क्रोधोन्मत्त हो उमड़ रहे हैं; पांचों महाद्वीप प्रकम्पित हो रहे हैं, हवाएँ और बिजलियाँ गरज रही हैं।" इतिहास ने मार्क्स की उस भविष्यवाणी को पूरी तरह साकार कर दिया है, जो उन्होंने 95 वर्षों पहले की थी : **"यदि कम्यून को कुचल भी दिया गया, तब भी संघर्ष सिर्फ़ स्थगित होगा। कम्यून के सिद्धान्त शाश्वत और अनश्वर हैं, जबतक मज़दूर वर्ग अपनी मुक्ति अर्जित नहीं कर लेता, तबतक ये सिद्धान्त बार-बार अपनी घोषणा करते रहेंगे। पेरिस कम्यून का पतन हो सकता है, लेकिन जो सामाजिक क्रान्ति इसने प्रारम्भ की है, वह विजयी होगी। इसकी ज़मीन सर्वत्र मौजूद है।"**

('पीकिङ रिव्यू', 15 अप्रैल, 1966 में प्रकाशितचेङ चिह-स्त्जूका लेख)

"18 मार्च का गौरवमय आन्दोलन मानव जाति को वर्ग-शासन से सदा के लिए मुक्त कराने वाली महान सामाजिक क्रान्ति का प्रभात है।" – कार्ल मार्क्स

"बुर्जुआ वर्ग को अपनी 14 जुलाई या 22 सितम्बर को उत्सव मनाने दो। सर्वहारा वर्ग का त्योहार तो सभी जगह हमेशा 18 मार्च ही होगा।" – फ्रेडरिक एंगेल्स

"सम्पत्तिवान वर्गों की संयुक्त सत्ता के खिलफ अपने संघर्ष में मजदूर वर्ग अपने को, सम्पत्तिवान वर्गों द्वारा स्थापित तमाम पुरानी पार्टियों के विरुद्ध और उनसे भिन्न, एक राजनीतिक पार्टी में संगठित करके ही, एक वर्ग की हैसियत से कार्रवाई कर सकता है।"– मार्क्स और एंगेल्स

"मजदूरों के पेरिस और उसके कम्यून को नये समाज के गौरवपूर्ण अग्रदूत के रूप में हमेशा याद किया जायेगा। इसके शहीदों ने मजदूर वर्ग के महान हृदय में अपना स्थान बना लिया है।"–कार्ल मार्क्स

"कम्यून, जो पुरानी दुनिया के शासकों के विचार में पूर्ण रूप से नष्ट हो चुका है, पहले के किसी भी समय के मुक़ाबले आज और ज़्यादा जीवनी-शक्ति से ओतप्रोत है। इसलिए, हम आप लोगों के साथ मिलकर यह नारा बुलन्द कर सकते हैं : कम्यून जिन्दाबाद।"– मार्क्स और एंगेल्स

पेरिस कम्यून की हार के बाद जो थोड़े से कम्यूनार्ड भागकर फ्रांस से बाहर निकल पाये, उनमें से एक यूजीन पोतिए भी थे। वेफ़रारी में रची हुई कुछ कविताएँ भी अपने साथ लाये थे जो कम्यून की उस ज्वाला में धधकती कविताएँ थीं, जो पराजय के बावजूद विश्व-सर्वहारा का मार्ग आलोकित कर रही थी। इन्हीं में से एक कविता यूरोप और फिर दुनिया की सभी भाषाओं में अनूदित हुई और इसकी कुछ पंक्तियाँ पूरी दुनिया के सर्वहारा वर्ग का संघर्षनाद बन गईं। 'इण्टरनेशनल' नाम से प्रसिद्ध यह आह्वान गीत हर देश के मज़दूर गाते हैं, एक ही धुन पर! हम भी इसे गाते हैं :

उठ जाग ओ भूखे बन्दी
अब खींचो लाल तलवार
कब तक सहोगे भाई
जालिम का अत्याचार।
तेरे रक्त से रंजित क्रन्दन
अब दस दिशि लाया रंग
ये सौ बरस के बन्धन
मिल साथ करेंगे भंग।
ये अन्तिम जंग है जिसको
जीतेंगे हम एक साथ
गाओ इण्टरेनशनल
भव स्वतंत्रता का गान।

इलाज के नाम पर लोगों की जान से खेल रही हैं दवा कम्पनियाँ

अभी हाल ही में सुप्रीम कोर्ट ने भारत में दवा परीक्षणों के द्वारा होने वाले स्वास्थ्य संबंधी दुष्प्रभावों और इनके कारण होने वाली मौतों के कारणों को लेकर दायर एक याचिका की सुनवाई के दौरान कहा था कि भारत में दवा कम्पनियाँ परीक्षण के नाम पर लोगों की ज़िन्दगी के साथ खिलवाड़ कर रही हैं तथा सरकार ने भी भारत में जारी इन अनैतिक दवा-परीक्षणों को रोकने के लिए अभी तक कोई ठोस कदम नही उठाये हैं। परन्तु खुद को जनता का प्रतिनिधि बताने वाले तमाम चुनावी पार्टियों के नेताओं के कान पर जूँ तक नही रेंगी। ऐसा इसलिए है क्योंकि मरने वालो में किसी नेता, मंत्री के सगे-संबंधी न होकर ग़रीब मज़दूर-किसानों के बेटे-बेटी और सगे संबंधी थे। एक सरकारी संस्था द्वारा जारी आँकड़ों के अनुसार भारत में 2008 से लेकर अब तक 2000 से भी ज़्यादा लोग दवा परीक्षणों के कारण अपनी जान गँवा बैठे हैं। इसी रिपोर्ट में यह भी बताया गया है कि इन सब मामलों मे केवल 22 लोगों को ही मुआवज़ा दिया गया है। इन सब तथ्यों ने लूट-खसोट पर टिकी इस पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के मानव-विरोधी चेहरे को एक बार फिर उजागर कर दिया है जहाँ ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने की फ़िराक में रहने वाली दवा कम्पनियों को इन्सानों की जान के साथ खेलने की पूरी छूट मिली हुई है।

पूरे स्वास्थ्य क्षेत्र के बाज़ारीकरण के साथ अब दवाओं का परीक्षण भी करोड़ों-अरबों रुपयों का धन्धा बन चुका है। इस धन्धे में लगभग 1000 कम्पनियाँ हैं जिसमें से आधे से ज़्यादा के मुख्यालय अमेरिका में हैं। दवा कम्पनियों को अपनी दवाओं को बाजार में उतारने से पहले यह सिद्ध करना पड़ता है कि उनके द्वारा तैयार की गयी दवा मनुष्यों के उपयोग के लिये सही है या नहीं। इसके लिए कम्पनियों द्वारा तैयार दवाई का मनुष्यों के ऊपर पर परीक्षण किया जाता है, ताकि उसकी उपयोगिता और सुरक्षा को परखा जा सके।

दवा कम्पनियों के मुताबिक एक नयी दवा विकसित करने के लिए किये जाने वाले कुल खर्च में से लगभग 40 प्रतिशत हिस्सा दवाओं के मनुष्यों पर होने वाले इस परीक्षण में खर्च होता है। कम से कम खर्च पर परीक्षण करने के लिये दवा कम्पनियाँ भारत जैसे ग़रीब और विकासशील देशों को चुनती हैं। इसका एक कारण है कि यहाँ परीक्षण पर होने वाला खर्च अमेरिका तथा यूरोपीय देशों के मुकाबले 10 गुना कम होता है, और दूसरा, भारत जैसे देशों में सरकारी उपेक्षा और यहाँफैले भ्रष्टाचार का फ़ायदा उठाकर ये कम्पनियाँ डॉक्टरों, स्वास्थ्य अधिकारियों, एन.जी.ओ. आदि से साँठ-गाँठ कर यहाँ की ग़रीब जनता को पैसे और बेहतर इलाज का झाँसा देकर अपने परीक्षण के लिए इस्तेमाल करती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के हेलसिंकी घोषणापत्र में दवा कम्पनियों के लिए कुछ आवश्यक दिशा-निर्देश निर्धारित हैं जिनका उन्हें अपनी दवाओं के परीक्षण करने से पूर्व का पालन करना होता है।

इसमें परीक्षण करने से पहले उस व्यक्ति की सहमति लेना आवश्यक होता है जिस पर यह परीक्षण किया जाना है। ऐसे ही कुछ दिशा-निर्देश भारतीय चिकित्सा अनुसन्धान परिषद (आईसीएमआर) द्वारा भारत में भी जारी किये गये हैं। लेकिन भारत जैसे देश में ये दिशा-निर्देश सिर्फ़ कागज़ों पर मौजूद हैं। ऐसा कोई क़ानून अब तक अस्तित्व में नहीं आया जो दवा कम्पनियों को इन दिशा-निर्देशों को मानने के लिए बाध्य कर सके। चूँकि भारत जैसे देशों में ज़्यादातर मरीज़ ग़रीब तबके से आते हैं तथा पढ़े-लिखे न होने के कारण अपने अधिकारों के बारे में भी नही जानते, इस कारण बहुतेरे लोग कुछ पैसों तथा अच्छे इलाज के प्रलोभन में आकर अपने शरीर पर परीक्षण करवाने के लिए तैयार हो जाते है।

एक तरफ तो यह कम्पनियाँ भारत में ग़रीब जनता को धोखे में रख उनपर अपनी दवा का परीक्षण कर उनकी जान से खेल रही है वहीं दूसरी तरफ किसी ठोस क़ानून के अभाव में दवा परीक्षण के दौरान या उसके दुष्प्रभावों के कारण होने वाली मौतों से भी अपना पल्ला झाड़ लेती हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा जारी रिपोर्ट के अनुसार सन 2008 से लेकर 2011 तक भारत में 2031 लोग दवा परीक्षणों के दौरान मरे थे। परन्तु दवा कम्पनियों का दावा है कि इनमें से कुछ प्रतिशत लोग ही सीधे तौर पर दवाओं के दुष्प्रभावों के कारण मारे गये थे जबकि एक समाचार एजेंसी की रिपोर्ट के अनुसार 2010 में दवा परीक्षणों में जान गँवाने वाले 668 लोगों में से 158 की मौत सैनोफी एवेन्तीस नामक दवा कम्पनी के परीक्षण के दौरान हुई थी जिसका मुख्यालय फ्रांस में है, और 139 लोग बेयर नाम की जर्मन कम्पनी की दवाओं के परीक्षण के दौरान मरे थे। इसके अलावा 2010 में ही कैंसर रोकने वाली वैक्सीन का ट्रायल सुर्खियों में रहा था जिसके दौरान आन्ध्र प्रदेश और गुजरात में एचपीवी गर्भाशय कैंसर की रोकथाम के नाम पर वहाँ की गरीब लड़कियों पर इस टीके की जाँच की गयी थी। इस टीके के दुष्प्रभावों के कारण छह आदिवासी लड़कियों की मौत हो गयी थी। बाद में सरकार ने सिर्फ़ इतना कहकर इस पूरे मामले को दबा दिया कि लड़कियों की मौत वैक्सीन की वजह से नहीं बल्कि किसी अन्य कारण से हुई है।

एक ओर जहाँ दवा कंपनियाँ मुनाफ़े की हवस में भारत तथा अन्य विकासशील देशों की ग़रीब जनता को बलि का बकरा बना रही हैं, वहीं दूसरी तरफ जब ये दवाएँ बाज़ार में आती हैं तो इन दवाओं की कीमत इतनी अधिक होती है कि आम ग़रीब जनता इन्हें प्राप्त करने के बारे में सोच भी नहीं सकती। दवाओं का उत्पादन, इनको बेचने का तरीका पूँजीवादी बाज़ार में बिकने वाले अन्य किसी भी माल जैसा ही है, जिसके लिए कम्पनियाँ ऐसे देशों की तलाश करती हैं जहाँ उन्हें सबसे सस्ता श्रम मिल सके और मोटा मुनाफ़ा बटोरने का बाज़ार मिल सके। यह वर्तमान पूँजीवादी सम्राज्यवादी व्यवस्था का सबसे घिनौना आपराधिक पहलू है। इस तरह की घटनाओं से आये दिन यह साबित होता है कि कि इस पूरी पूँजीवादी व्यवस्था में जहाँ ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा कमाना ही एकमात्र उद्देश्य हो ऐसे में यह अपेक्षा रखना की वह वैज्ञानिक खोजों को मानवता की सेवा में लगायेगी एक काल्पनिक सोच होगी। आज विज्ञान ने इतनी उन्नति कर ली है कि कल तक जिन बीमारियों को लाइलाज बीमारियाँ समझा जाता था अब उनका इलाज भी सम्भव है, परन्तु जब तक पूँजीवादी व्यवस्था क़ायम रहेगी तब तक विज्ञान के क्षेत्र में किसी भी उपलब्धि का लाभ मुट्ठीभर पैसेवाले लोग ही उठा पायेंगे। वैज्ञानिक प्रयोगों का मानवता के लिए इस्तेमाल तो केवल समाजवादी व्यवस्था में ही सम्भव है।

● मनन विज

मारुति सुज़ुकी मज़दूर आन्दोलन के इस निर्णायक चरण में आगे बढ़ने के लिए ...

(पेज 6 से आगे)

उनकी आलोचना नहीं रखते। ये संगठन कभी भी किसी मंच से खुलकर केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के सामने यह प्रस्ताव नहीं रखते कि वे मारुति सुज़ुकी मज़दूर आन्दोलन की मदद करें; अपने कारख़ानों में टूल डाउन करवायें, या एक दिन की प्रतीकात्मक हड़तालें करवायें; उल्टे ये संगठन सही ताक़तों के ख़िलाफ़ केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के पुछल्ले बन जाते हैं! उनके बीच एक पूर्ण सामंजस्य का सम्बन्ध है। न तो केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों की समिति इन कानाफूसीवादी संगठनों की कोई आलोचना या उन पर टिप्पणियाँ करती है, और न ही ये संगठन केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के बारे में अपनी कोई आलोचनात्मक राय रखते हैं, ताकि उन पर हमारी मदद करने का दबाव बने। क्या इस समझौतापरस्त और मौकापरस्त रुझान से हमारे आन्दोलन को नुकसान नहीं पहुँच रहा है?

आन्दोलन के इस निर्णायक दौर में सफलता की एक ज़रूरी पूर्वशर्त

साथियो, हमारा मानना है कि ऐसे संगठनों से हमें सावधान रहना चाहिए, जो खुलकर सभी आन्दोलनरत साथियों के बीच अपने विचार नहीं रखते; यह नहीं बताते कि संघर्ष के आगे का रास्ता क्या हो; सभी मज़दूरों के बीच खुलकर अपनी बात रखने की बजाय यूनियन नेतृत्व को बन्द कमरों में कानाफूसी के ज़रिये अपने प्रभाव में लाने का प्रयास करते हैं; आन्दोलन में सक्रिय ईमानदार संगठनों (जो कि हमेशा पूरी ताक़त के साथ आपके आन्दोलन में उपस्थित हुए हैं) के ख़िलाफ़ कुत्साप्रचार करते हैं; अपनी राजनीतिक सोच और योजना के आधार पर बात करने की बजाय, दाढ़ी और नकली ज्ञान दिखाकर अपनी सोच को स्थापित करना चाहते हैं; और साथ ही, मज़दूर आन्दोलन के भीतर 'लाइम लाइट' में आने की मानसिकता को बढ़ावा देकर आन्दोलन को नुकसान पहुँचाते हैं। ऐसे संगठनों के बारे में 'बिगुल मज़दूर दस्ता' लगातार सभी साथियों को आगाह करता रहा है। हमारा मानना है कि ऐसी ताक़तें आन्दोलन में विघटन और फूट पैदा करती हैं और इनकी निगाह में यह बात नहीं होती कि मारुति सुज़ुकी मज़दूर आन्दोलन को सफलता के मुकाम तक कैसे पहुँचाया जाय; इनकी निगाह में सिर्फ़ यह होता है कि अपने नेतृत्व का सिक्का कैसे चमकाया जाय।

हमारा मानना है कि जब तक ऐसे संगठनों के छलावों से हम मुक्त नहीं होते, तब तक हम अपने आन्दोलन में बार-बार सही समय पर सही फ़ैसला न ले पाने की भूल करते रहेंगे। इन संगठनों की अभी तक के आन्दोलन के इतिहास में यही भूमिका रही है, कि वे संघर्ष को सही दिशा में जाने से रोकते हैं। हम ऊपर इस बात का उदाहरण दे चुके हैं कि ऑटो वर्कर सम्मेलन के दौरान जन्तर-मन्तर की रैली को रोकने के लिए इन संगठनों द्वारा कितने प्रयास किये गये थे। उसी प्रकार, इन संगठनों ने दिल्ली में प्रदर्शन को रोकने के लिए भी हर सम्भव प्रयास किया है और तमाम लोगों को इस बात पर सहमत करने का प्रयास किया है कि दिल्ली में प्रदर्शन करने का कोई लाभ नहीं होगा। जबकि हम अभी तक के अनुभव से जानते हैं कि हमने दिल्ली में मात्र दो बार प्रदर्शन किये और वे भी सिर्फ एक-एक दिन के, और उनमें से एक प्रदर्शन के बाद ही दीपेन्द्र हुड्डा ने बातचीत करने के लिए हमारे नेतृत्व के साथी को बुलवा लिया था। अगर एक दिन के प्रदर्शन का यह असर हो सकता है, तो दिल्ली में जन्तर-मन्तर पर डेरा डालकर अनशन करने का क्या असर हो सकता था, यह समझा जा सकता है। जन्तर-मन्तर से जबरन हटाये जाने की भी कोई सम्भावना नहीं है, और मीडिया कवरेज के ज़रिये हमारी बात भी पूरे देश में पहुँच सकती थी। इसके ज़रिये सरकार और कम्पनी पर जो राजनीतिक दबाव बनेगा, उससे हमारे संघर्ष को कम-से-कम आंशिक सफलता मिलने की गुंजाइश पैदा हो सकती है। लेकिन इन संगठनों के लिए मारुति सुज़ुकी मज़दूर आन्दोलन का दिल्ली की सड़कों पर पहुँचना नुकसानदेह है। क्योंकि वहाँ इन्हें डर है कि आन्दोलन और नेतृत्व पर से उनका प्रभाव ख़त्म हो जायेगा।

आप देख सकते हैं कि ये संगठन आन्दोलन की सफलता को लेकर चिन्तित नहीं हैं, बल्कि अपने संकीर्ण सांगठनिक हितों को लेकर चिन्तित हैं। ऐसे में, जब तक हम ऐसी विजातीय प्रवृत्तियों से छुटकारा नहीं पायेंगे, तब तक आन्दोलन के आगे बढ़ने में बहुत सी मुश्किलें रहेंगी।

निष्कर्ष

एक तो हम पहले ही निर्णायक क़दम उठाने में देर कर चुके हैं, और अगर ऐसे में हमारे बीच इस प्रकार की विजातीय राजनीति करने वाली ताक़तें मौजूद रहेंगी, तो निश्चित तौर पर हमें भविष्य में इसकी कीमत चुकानी पड़ेगी। 'बिगुल मज़दूर दस्ता' ऐसी राजनीति की भर्त्सना करता है और यह आह्वान करता है कि आन्दोलन के भीतर कुत्साप्रचार और अफ़वाह की राजनीति को बन्द कर सभी मज़दूरों के सामने खुली राजनीतिक चर्चा की संस्कृति को बहाल किया जाय।

एम.एस.डब्ल्यू.यू. ने जहाँ पर भी डेरा डालने का निश्चय किया है, 'बिगुल मज़दूर दस्ता' हर क़दम पर उसके साथ मौजूद रहेगा और अपनी ताक़त के अनुसार हर सम्भव सहायता करेगा। हमें पहले ही बहुत देर हो चुकी है, जिससे कि हमारी शक्ति और ऊर्जा कुछ क्षरित हुई है। अब हमें फिर से कमर कसकर उठ खड़े होना होगा। यह हमारे संघर्ष का निर्णायक दौर है, और एक बार पूरी ताक़त से धक्का लगाने का वक्त आ गया है। हमारा विचार है कि इसके लिए अभी से तैयारी शुरू कर दी जानी चाहिए और हरेक आन्दोलनकारी मज़दूर को परिवार समेत प्रदर्शन में गोलबन्द करने का प्रयास करना चाहिए। अगर हम एक बार फिर आन्दोलन में ऊर्जा और उत्साह भरने और साथियों को एक बार फिर से पूरी ताक़त और प्रतिबद्धता से सड़क पर उतारने में सक्षम हो पाये तो निश्चित तौर पर हम अपने लक्ष्य के कुछ और नज़दीक पहुँच जायेंगे। इंक़लाब-ज़िन्दाबाद! संघर्ष ज़िन्दाबाद!

(8 मार्च, 2013)

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? (सत्रहवीं किश्त)

● आनन्द सिंह

इस धारावाहिक लेख की चौथी किस्त 'नयी समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' अख़बार के अन्तिम अंक (जून, 2010) में प्रकाशित हुई थी। उसी अख़बार के उत्तराधिकारी के रूप में नवम्बर 2010 में जब 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन शुरू हुआ तो प्रवेशांक में कुछ अपरिहार्य कारणों से इस लेख की अगली किस्त नहीं दी जा सकी। दिसम्बर 2010 अंक से पुनः इस धारावाहिक लेख का प्रकाशन शुरू किया गया है। इसकी पहली बारह किस्तों के लेखक आलोक रंजन हैं। – सम्पादक

मूलभूत कर्तव्य: राज्य की विफ़लता का ठीकरा जनता पर फोड़ने की बेशर्म क़वायद

भारतीय संविधान के भाग 4क में नागरिकों के लिए कुछ मूलभूत कर्तव्य गिनाये गये हैं। ग़ौरतलब है कि यह भाग मूल संविधान में नहीं था, बल्कि इसे 1976 में 42 वें संशोधन के द्वारा संविधान में डाला गया था। यह महज़ संयोग नहीं है कि भारतीय राज्य ने नागरिकों को उनके मूलभूत कर्तव्यों की याद उस समय दिलाई जब आज़ादी के समय दिखाये सपनों के तार-तार होने के बाद जन-असंतोष इतना गहरा चुका था कि हालात को क़ाबू में करने के लिए शासक वर्ग को संविधान में ही मौजूद प्रावधानों का इस्तेमाल करके पूरे देश में आपातकाल लगाना पड़ा। लगातार बढ़ती हुई ग़रीबी और बेरोज़गारी की वजह से 'नेहरूवादी समाजवाद' (जो वास्तव में राजकीय पूँजीवाद था) का खोखलापन और भारतीय संविधान की पूँजीवादी अन्तर्वस्तु जनता के सामने दिन के उजाले की तरह साफ हो चुकी थी। ऐसे में भारतीय बुर्जुआ शासक वर्ग और उसकी सबसे भरोसेमन्द कांग्रेस पार्टी ने न सिर्फ आपातकाल की घोषणा की बल्कि संविधान में भी कुछ बुनियादी फेरबदल करके एक अति-केन्द्रीयकृत फौलादी राज्यसत्ता के रूप में अपनी ताक़त और मज़बूत करने की साज़िश भी रची। संविधान का कुख़्यात 42 वां संशोधन इसी साज़िश का नतीजा था जिसे तत्कालीन विदेश मंत्री स्वर्ण सिंह के नेतृत्व वाली समिति की सिफ़ारिशों के आधार पर लागू किया गया था। एक ऐसे समय में जब संविधान में ही मौजूद राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों को लागू करने में भारतीय राज्य की विफ़लता स्पष्ट रूप से दिख रही थी, नागरिकों के मूलभूत कर्तव्यों के प्रावधान संविधान में डालने के पीछे शासक वर्ग की मंशा यह थी की इनका सहारा लेकर राज्य अपनी विफ़लता का दोष जनता के मत्थे मढ़ सके। इन मूलभूत कर्तव्यों की आड़ लेकर राज्य के नुमाइंदे जनता को यह पाठ पढ़ाते रहे हैं कि तमाम सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के लिए शासन और प्रशासन की व्यवस्था नहीं बल्कि नागरिक ही ज़िम्मेदार हैं क्योंकि वे अपने मूलभूत कर्तव्यों का पालन नहीं करते। हलाँकि ये कर्तव्य किसी न्यायालय में प्रवर्तनीय नहीं हैं, फिर भी ये निश्चय ही शासक वर्ग के हाथ में एक ऐसा हथकण्डा है जिसके सहारे वे जनता के बुनियादी अधिकारों का हनन करने का औचित्य प्रतिपादन करते हैं।

आम तौर पर मूलभूत कर्तव्यों के समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं, इसलिए यदि नागरिकों को मूलभूत अधिकार चाहिए तो उनको कुछ मूलभूत कर्तव्यों का भी पालन करना ही होगा। इस क़िस्म का तर्क करने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि किसी भी देश के संविधान के सन्दर्भ में यह तर्क तो मुख्यत: और मूलत: शासक वर्ग और राज्यसत्ता के लिए लागू होना चाहिए। जनवाद का तक़ाज़ा तो यह है कि यदि कोई राज्य नागरिकों से अपने द्वारा बनाये गये कानूनों का पालन करने की अपेक्षा रखता है तो उसका यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह जनता की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करे और जनता के बुनियादी अधिकारों का सम्मान करे। इस धारावाहिक में हम पहले ही यह चर्चा विस्तार से कर चुके हैं कि दुनिया का सबसे लम्बा संविधान होने के बावजूद भारतीय संविधान नागरिकों को उनके बेहद बुनियादी हक़ों मसलन काम करने का अधिकार, भोजन का अधिकार, आवास का अधिकार, समान और निशुल्क शिक्षा का अधिकार, स्वास्थ्य का अधिकार, काम करने की मानवोचित परिस्थितियों को अधिकार आदि की भी कोई ज़िम्मेदारी नहीं लेता। यही नहीं बीते वर्षों में भारतीय राज्य अपने तमाम वायदों से निहायत ही बेशर्मी से मुकरता जा रहा है। भारतीय राज्य की पूँजी के प्रति पक्षधरता और उसका घोर जनविरोधी चरित्र अब खुले रूप में सामने आ चुका है। ऐसी जनविरोधी राज्यसत्ता जब अपने नागरिकों से उनके मूलभूत कर्तव्यों का पालन करने का आह्वान करती है तो यह एक प्रहसन के समान लगता है। यह आश्चर्य की बात नहीं है देश की अधिकांश आबादी को यह पता भी नहीं होगा कि यह मूलभूत कर्तव्य किस चिड़िया का नाम है और जिन लोगों को इसके बारे में पता भी है उनको यह भी पता है कि इसकी कोई प्रासंगिकता नहीं है।

भारतीय संविधान के मूलभूत कर्तव्यों से सम्बन्धित प्रावधानों का एक और प्रहसनात्मक पहलू यह है कि इसको पूर्व सोवियत संघ के समाजवादी संविधान से प्रेरित बताया जाता है। यह बात उतनी ही हास्यास्पद है जितनी कि यह कि नेहरूवादी समाजवाद सोवियत संघ के समाजवाद से प्रेरित था थे और उन नीतियों से भारत समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहा था। तत्कालीन सोवियत संघ की समाजवादी अन्तर्वस्तु को दरकि़नार करके महज़ उसके आवरण की नक़ल करने की जो हास्यास्पद प्रक्रिया नेहरू के समय शुरू हुई थी वह इन्दिरा गाँधी के दौर में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। हम यह पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि संविधान के 42 वें संशोधन के द्वारा ही प्रस्तावना में 'समाजवाद' शब्द जोड़ा गया था । मूलभूत कर्तव्य को संविधान में जोड़ना भी इसी हास्यास्पद नक़ल की एक कड़ी थी। यह सच है कि 1936 में पारित सोवियत संघ के संविधान में मूलभूत कर्तव्यों के प्रावधान मौजूद थे। परन्तु उस संविधान में उससे पहले जनता को काम करने के अधिकार, आराम करने के अधिकार, बुजुर्गों की बेहतर ज़िन्दगी का अधिकार, सार्वभैमिक और समान शिक्षा का अधिकार, स्त्रियों और पुरुषों की बराबरी का अधिकार आदि जैसे बुनियादी अधिकारों के प्रावधान भी संविधान में मौजूद थे। न सिर्फ सविधान में, बल्कि व्यवहार में भी सोवियत संघ की समाजवादी सत्ता ने महज़ तीन दशकों के भीतर ही ग़रीबी, भुखमरी, बेरोज़गारी, वेश्यावृत्ति आदि जैसी समस्याओं का समाधान करके दिखाया। सोवियत सत्ता ने यह सिद्ध कर दिया था कि उत्पादन और शासन-प्रशासन के हरेक स्तर पर मेहनतकशों की प्रत्यक्ष भूमिका से सरकार चलायी जा सकती है। ऐसा राज्य जो नागरिकों की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने की गारण्टी लेती हो, जो जनता से दूर उस पर हुकूमत करने की बजाय उसकी प्रत्यक्ष भागीदारी से शासन-प्रशासन की गतिविधियाँ चलाता हो, यदि नागरिकों से मूलभूत कर्तव्यों का पालन करने का आग्रह करता है तो यह बिल्कुल स्वाभाविक है। परन्तु एक ऐसे राज्य को नागरिकों से उनके मूलभूत कर्तव्यों का पालन करने की अपेक्षा करने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है जो स्वयं जनता की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने की ज़िम्मेदारी से मुकर जाये और लोगों के श्रम के शोषण और उनके उत्पीड़न को रोकने की बजाय उल्टे उसको बढ़वा दे रहा हो।

आइये अब हम एक नज़र भारतीय संविधान में मौजूद मूलभूत अधिकारों पर दौड़ायें। ये कर्तव्य बेहद सामान्य प्रकृति के हैं जिनका कोई ठोस 'ऑपरेटिव पार्ट' भी नहीं निकलता। अनु. 51क(क) में नागरिकों को यह हिदायत दी गई है कि वे संविधान का पालन करें और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्र ध्वज और राष्ट्र गान का आदर करें। अनु. 51क(ख) के अनुसार नागरिकों को स्वतन्त्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजाए रखना चाहिए और उनका पालन करना चाहिए। कोई यह सवाल कर सकता है कि यदि कोई व्यक्ति संविधान की प्रस्तावना में मौजूद आदर्शों और स्वतन्त्रता संग्राम को प्रेरित करने वाले आदर्शों को उनके वास्तविक अर्थों में लेकर एक ऐसा समाज बनाने के लिए मौजूदा व्यवस्था के ख़िलाफ़ संघर्षरत है जिसमें वे आदर्श वास्तव में ज़मीनी हक़ीकत बन सकें तो क्या वह अपने मूलभूत कर्तव्यों का पालन कर रहा है अथवा नहीं?

अनु. 51क(ग) के अनुसार प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे। इसमें सवाल यह उठता है कि यदि कोई नागरिक जम्मू व कश्मीर और पूर्वोत्तर के राज्यों की जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करता है और इन राज्यों में भारतीय सेना की ज़्यादतियों का मुखर विरोध करता है तो वह उपरोक्त मूलभूत कर्तव्य का पालन कर रहा है अथवा नहीं?

अनु. 51क(घ) के अनुसार नागरिकों को देश की रक्षा करनी चाहिए और आह्वान किये जाने पर राष्ट्र की सेवा करे। यदि कोई दूसरा देश हमारे देश पर हमला करे तब तो यह बात समझ में आती है कि नागरिकों को जी जान से देश की रक्षा करनी चाहिए। परन्तु यदि हमारे देश का शासक वर्ग अपनी विस्तारवादी महत्वकांक्षाओं की तृप्ति के लिए और जनता का ध्यान अन्य बुनियादी मुद्दों से हटाने के लिए युद्धोन्माद फैलाता है और ऐसे में यदि कोई नागरिक शासक वर्ग के अन्धराष्ट्रवाद का विरोध करता है तो क्या वह अपने मूलभूत कर्तव्यों का पालन कर रहा है अथवा नहीं?

अनु. 51क(ङ) के अनुसार सभी नागरिकों का यह कर्तव्य है कि वे भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो और वे ऐसी प्रथाओं का त्याग करें जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हो। देश की चुनावी राजनीति से वाक़िफ़ कोई भी व्याक्ति यह बखूबी जानता है कि धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित भेदभाव करने वालों में सबसे शीर्ष स्थान शासक वर्ग की नुमाइंदगी करने वाली तमाम चुनावी पार्टियों के नेता करते हैं। अब यह बात किसी से छिपी नहीं है कि समाज में साम्प्रदायिक और जातीय नफ़रत और भेदभाव फैलाने के लिए सर्वोपरि रूप से भारतीय राज्य के विभिन्न अंग - चुनावी पार्टियाँ, पुलिस, नौकरशाही - ज़िम्मेदार हैं। ऐसा राज्य जब नागरिकों से सामाजिक समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करने की बात करता है तो यह बेशर्मी ही कही जायेगी।

अनु. 51क(च) में नागरिकों का यह कर्तव्य बताया गया है कि वे समृद्ध विरासत की गौरवशाली परम्परा का महत्व समझे और उनकी रक्षा करें। इस प्रावधान को कई बार पढ़ने के बाद भी यह पता लगाना मुश्किल है कि इसका मतलब क्या है और नागरिकों को इस कर्तव्य को पूरा करने के लिए क्या करना चाहिए। अनु. 51क(छ) में प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करने और उसका संवर्धन करने तथा प्राणि मात्र के प्रति दयाभाव रहने के लिए कहा गया है। पिछले छह दशकों के विकास में पर्यावरण की रक्षा करने में भारतीय राज्य नितान्त विफल रहा है। मुनाफे की अन्धी होड़ में जंगल, नदियां, पर्वत, आबोहवा सबकुछ प्रदूषित हो रहे हैं और अब तो बात यहाँ तक आ पहुँची है कि 'ग्लोबल वार्मिंग' जैसी परिघटनाओं की वजह से धरती पर मानव सहित अन्य जीवों की उपस्थिति पर ही खतरा उत्पन्न हो गया है। ऐसे में पर्यावरण की रक्षा करने की ज़िम्मेदारी नागरिकों पर थोपना दरअसल अपनी विफलता पर पर्दा डालने का ही प्रयास जान पड़ता है।

अनु. 51क(ज) के अनुसार नागरिकों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करना चाहिए। स्पष्ट रूप से ऐसे दृष्टिकोण और भावना के विकास की ज़िम्मेदारी राज्य की होनी चाहिए। परन्तु संविधान में कहीं भी राज्य को यह ज़िम्मेदारी नहीं सौंपी गयी है। ऐसे में यह अपनी ज़िम्मेदारी से पल्ला झाड़कर जनता के ऊपर समाज में मौजूद अन्धविश्वासों और अमानवनीयता के लिए जनता को ही ज़िम्मेदार ठहराने की क़वायद ही जान पड़ती है।

अनु. 51क(झ) जनता को यह सलाह देता है कि वह सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे। इस प्रावधान को मूलभूत कर्तव्य के अध्याय में डालने के पीछे जनान्दलानों को निशाना बनाने की मंशा साफ तौर पर नज़र आती है। यह बात राज्य की हिंसा और सामाजिक संरचनात्मक हिंसा पर संविधान की चुप्पी से और स्पष्ट हो जाती है।

अनु. 51क(ञ) के अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों में के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करे जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू ले। यह प्रावधान एक बड़बोले व्यक्ति की नसीहत जैसा लगता है और इस पर ज़्यादा बात करना समय की फिजूलखर्ची होगी।

वर्ष 2002 में संविधान के 86 वें संशोधन के द्वारा शिक्षा के मूलभूत अधिकार के साथ ही साथ एक नया मूलभूत कर्तव्य भी जोड़ा गया जिसके अनुसार 6-14 वर्ष के बीच की आयु के हर बच्चे के माता-पिता की यह ज़िम्मेदारी होगी कि वह अपने बच्चे को पढ़ने का अवसर प्रदान करे। यह प्रावधान भी छह दशकों में राज्य की सार्वजनिक शिक्षा मुहैया कराने की विफलता की ज़िम्मेदारी ख़ासकर ग़रीब जनता के मत्थे डालने के लिए डाला गया जान पड़ता है।

पूँजीवादी शासक वर्ग तमाम हथकण्डों से जनता को अपने शासन के प्रति निष्ठावान और समर्पित बनाने की कोशिश करता आया है और भारतीय संविधान में मौजूद मूलभूत कर्तव्य भी इसी की एक कड़ी है। परन्तु एक मेहनतकश इन्सान का सर्वोपरि दायित्व यह है कि वह उत्पादन और शासन-प्रशासन की एक ऐसी व्यवस्था बनाने के लिए जी जान से जुट जाये जो एक इन्सान द्वारा दूसरे इन्सान के शोषण और उत्पीड़न से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करे।

अफ़ज़ल गुरू को फाँसी : बुर्जुआ "राष्ट्र" के सामूहिक अन्तःकरण की तुष्टि के लिए न्याय को तिलांजलि

गत 9 फरवरी को सुबह अफ़ज़ल गुरू को आख़िरकार दिल्ली की तिहाड़ जेल में फाँसी दे दी गयी। 13 दिसम्बर 2001 को संसद भवन पर हुए हमले के मामले में बतौर षड्यन्त्रकारी उसे "दोषी" पाया गया था। अफ़ज़ल गुरू की फाँसी कई सवालों को जन्म देती है, और 9 फरवरी के बाद से ही इस मुद्दे पर बहस जारी है–क्या वाकई अफ़ज़ल संसद भवन पर हमले की कार्रवाई में किसी भी रूप में शामिल था? क्या उसका मुक़दमा बुर्जुआ न्याय के सिद्धान्तों की कसौटी पर भी खरा उतरता है? कांग्रेस के नेतृत्व वाली संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार ने उसे फाँसी देने का वक़्त अभी ही क्यों चुना? फाँसी की सूचना को आख़िरी वक़्त तक गोपनीय क्यों रखा गया? ये सभी मुद्दे तो उठे ही, साथ ही ये प्रश्न भी उठे कि क्या मृत्युदण्ड का प्रावधान होना चाहिए? क्या इसे पूरी तरह से समाप्त नहीं कर दिया जाना चाहिए? और इसी तरह के कुछ अन्य प्रश्न।ऐसे लोग जिन्होंनेछद्म बुर्जुआ राष्ट्रवाद की बयार में बहकर अपनी नैसर्गिक न्यायप्रियता और विवेक को नहीं खोया है, और जिस "राष्ट्र" के सामूहिक अन्त:करण की तुष्टि के लिए अफ़ज़ल को फाँसी दी गयी उस"राष्ट्र" से खुद को नहीं जोड़ते उन्हें ये सभी प्रश्न निश्चित तौर पर परेशान करेंगे।

अफ़ज़ल गुरू को 13 दिसम्बर 2001 को संसद भवन पर हुए हमले के मामले में दोषी क़रार दिया गया था। इस हमले में 9 लोग मारे गये थे। हमला करने वाले पाँचों आतंकवादी भी मारे गये थे। अफ़ज़ल इस हमले के दौरान मौजूद नहीं था। उसे हमले के कुछ दिनों के भीतर ही कश्मीर से पकड़कर दिल्ली लाया गया। अभियोजन पक्ष की दलील थी कि इस हमले के पीछे का मास्टरमाइण्ड वही था। ट्रायल कोर्ट और फिर उच्चतम न्यायालय ने उसे दोषी पाया और फाँसी की सज़ा सुनायी। हालाँकि, सर्वोच्च न्यायालय ने अपने फैसले में उसे मुख्य आरोपी नहीं, बल्कि षड्यन्त्रकारी ही माना। इस फैसले के ख़िलाफ़ 2006 में अफ़ज़ल की पत्नी ने दया याचिका भी दायर की थी। जहाँ एक ओर पूर्व राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम और प्रतिभा पाटिल ने इस याचिका पर कोई फैसला नहीं दिया वहीं प्रणब मुखर्जी ने 3 फरवरी 2013 को इस याचिका को ख़ारिज कर दिया जिसके बाद 9 फरवरी को अफ़ज़ल को फाँसी दे दी गयी।

सरसरी निगाह से देखें तो दिसम्बर 2001 से फरवरी 2013 तक इस मामले से जुड़ा घटनाक्रम यही रहा है। लेकिन एकबारगी अन्धराष्ट्रभक्ति से पैदा हुए अपने पूर्वाग्रहों से हटकर सोचा जायेतो शुरू से अन्त तक यह पूरा मुक़दमा ही विसंगतियों से भरा लगता है। न्यायिक त्रुटियाँ, गढ़े गये साक्ष्य, और भारतीय राज्य की हर मशीनरी का कपटी चरित्र इस मामले की प्रमुख आभिलाक्षणिकताएँ बना रहा है। अफ़ज़ल गुरुका एक समय में जम्मू एण्ड कश्मीर लिबरेशन फ्रण्ट (जेकेएलएफ) से जुड़े रहना और बाद में आत्मसमर्पण कर देना एक ऐसा कारण था जिससे उसे इस षड्यंत्र में फँसाना आसान था। उच्चतम न्यायालय ने इसी सन्दर्भ में अपनी टिप्पणी देते हुए उसे समाज के लिए ख़तरा बताया। जहाँ तक स्वयं अफ़ज़लगुरू के बयान का सवाल है, तो उसका आरोप यह था कि जम्मू-कश्मीर की स्पेशल टास्क फोर्स के एक अधिकारी ने ही उसे मोहम्मद से मिलवाया था, जो बाद में संसद पर हमले में मारा गया। अफ़ज़ल को इस बात की जानकारी नहीं थी कि उससे दिल्ली में गाड़ी ख़रीदने और घर ढूँढ़ने की मदद क्यों ली जा रही है। अदालत ने इस आरोप को गैरज़रूरी समझते हुए दिल्ली पुलिस की विशेष सेल के सामने दिये गये उसके इक़बालिया बयान को ही पूरे मामले में उसकी भूमिका की पुष्टि करने का आधार बनाया। खुद उच्चतम न्यायालय ने यह माना कि अफ़ज़ल का इक़बाले-जुर्म कार्यविधिक रक्षा उपायों का उल्लंघन है और इसे मान्य साक्ष्य के रूप में नहीं लिया जा सकता है। लेकिन इसके बावजूद दोषसिद्ध करने के लिए इसे ही आधार बनाया गया था। इसके अलावा, जाँच और मुक़दमे की पूरी प्रक्रिया के दौरान अफ़ज़ल गुरू को सही वकील न मुहैया कराया जाना इस पूरे मामले की सबसे बड़ी विसंगति थी। अदालत द्वारा नियुक्त किया गया वकील नीरज बंसल अफ़ज़ल का मुक़दमा लड़ने को ही तैयार नहीं था। अभियोजन पक्ष द्वारा पेश किये गये गवाहों के आरोपों का खण्डन करने के लिए उसने जिरह तक नहीं की। कुल 80 गवाहों में से केवल 22 को ही जवाबतलब किया गया। यह है बुर्जुआ न्यायिक व्यवस्था की असलियत और क़ानून के समक्ष समानता के दावों का असली चेहरा! और इन सभी न्यायिक विसंगतियों की श्रृंखला में चार चाँद लगाते हुए उच्चतम न्यायालय द्वारा मृत्यु-दण्ड को अनुमोदित करने का यह कारण दिया गया–'इस घटना ने पूरे "राष्ट्र" को झकझोर कर रख दिया है और सिर्फ़ मृत्यु दण्ड ही समाज के सामूहिक अन्त:करण की तुष्टि कर सकता है।' देश की सर्वोच्च अदालत द्वारा दिये गये इस तर्क का क्या क़ानूनी आधार है, यह समझ से परे है। स्पष्ट है कि अफ़ज़ल गुरू को पहले आरोपी सिद्ध करके, "राष्ट्र" के शत्रु के रूप में प्रचारित करके और फिर फाँसी देकर बुर्जुआ राष्ट्रवाद के विमर्श को संजीवनी प्रदान करने की ही सारी मशक्कत है।

तथाकथित धर्मनिरपेक्ष हलकों में कांग्रेस के नेतृत्व वाली संप्रग सरकार के कार्यकाल के दौरान अफ़ज़ल को फाँसी दिये जाने पर काफ़ी आश्चर्य ज़ाहिर किया जा रहा है। इस तरह के विस्मय का क्या भौतिक आधार है, यह समझ में नहीं आता। कांग्रेस का साम्प्रदायिक सौहार्द के मामलों में वैसे भी ट्रैक रिकॉर्ड कोई बहुत अच्छा नहीं है। ऐसे तमाम मसलों पर वह भाजपा पर बीस ही पड़ती रही है।लेकिन फिर भी इस बार अफ़ज़ल गुरू और उससे पहले अजमल कसाब को फाँसी देने के पीछे तात्कालिक राजनीतिक समीकरण काम कर रहे थे। 2014 के आम चुनावों के मद्देनज़र भाजपा एक बार फिर से अपने कट्टर हिन्दुत्ववादी एजेण्डे पर वापस लौट रही है। कुम्भ मेले में राजनाथ सिंह की डुबकी और सन्तों के महासम्मेलन में राम मन्दिर बनाने के संकल्प को दुहराया जाना और साथ ही मोदी को प्रधानमन्त्री के उम्मीदवार के तौर पर अनौपचारिक तौर पर पेश करने के साथ ही भाजपा ने अपने मंसूबे साफ कर दिये हैं। इसी बीच 'हिन्दू आतंकवाद' को भाजपा से जोड़ने के शिन्दे के बयान ने कांग्रेस के लिए थोड़ी मुश्किल खड़ी कर दी। ऐसे में, भाजपा एक बार फिर से हिन्दू राष्ट्रवाद की लहर पर सवार होकर अपने पक्ष में जनता की राय बनाने के प्रयासों में लग गयी। कांग्रेस को भी यह सिद्ध करना था कि वह "उदार" के साथ "कठोर" भी हो सकती है। और प्रणब बाबू ने एक के बाद एक दया याचिकाओं को ख़ारिज करके बता दिया, कि कांग्रेस "राष्ट्र" की सुरक्षा को लेकर कोई भी समझौता नहीं करना चाहती है। पहले नवउदारवादी आर्थिक नीतियों को लागू करने में और फिर बुर्जुआ राष्ट्रवाद का ज़्यादा मुखर प्रतिनिधि बनकर कांग्रेस ने भाजपा के दोनों मुख्य मुद्दे हड़प लिये। अब जबकि इस बात के कुछ संकेत मिलने लगे हैं कि अगले चुनावों में नरेन्द्र मोदी को भाजपा अपना उम्मीदवार बना सकती है, तो कांग्रेस भी इस बात को समझ रही है कि ऐसी सूरत में मुसलमानों के वोट मजबूरन उसके पक्ष में ही आयेंगे। और ऐसे में कांग्रेस फिलहाल अपने हिन्दू वोट बैंक को सुदृढ़ करना चाहती है। स्पष्ट है कि अचानक, बिना मीडिया को बताये तिहाड़ में अफ़ज़ल को फाँसी दिये जाने का फैसला एक राजनीतिक फैसला था, जो कि कांग्रेस ने आने वाले चुनावों के लिए अपने राजनीतिक बायोडेटा को मज़बूत बनाने के लिए लिया था।

पहले कसाब की फाँसी और उसके बाद अफ़ज़ल गुरू की फाँसी ने बुद्धिजीवियों में इस बहस को भी शुरू कर दिया कि फाँसी की सज़ा होनी चाहिए या नहीं। वास्तव में, यह बहस 16 दिसम्बर को दिल्ली सामूहिक बलात्कार और हत्या के मसले के बाद से ही जारी है। कुछ लोगों का मानना है कि फाँसी की सज़ा न सिर्फ़ मानवीय गरिमा के ख़िलाफ़ है, बल्कि सभ्य समाज की अवधारणा के विपरीत खड़ी होती है। इन लोगों का मानना है कि हर मानव जीवन कीमती होता है और अपराध-सम्बन्धी न्याय प्रणाली का मकसद सुधार करना होना चाहिए, बदला लेना नहीं। लेकिन इस पूरे तर्क में यह बात साफ है कि हर मानव जीवन कीमती है। लेकिन जिस व्यक्ति ने मानव होने की शर्तें ही खो दी हों, और वह सभ्य समाज के लिए एक पाशविक ख़तरा हो, उसके बारे में भी क्या यह बात कही जा सकती है? 16 दिसम्बर को दिल्ली में चलती बस में एक पैरामेडिकल छात्रा के साथ जिस दरिन्दगी और जघन्यता के साथ अपराध हुआ, उसे शब्दों में बयान नहीं किया जा सकता है। उस अपराध को अंजाम देने वाले लोग असुधारणीय हैं और हर सभ्य मानव समाज के लिए ख़तरा हैं। ऐसे लोगों के लिए मृत्युदण्ड का प्रावधान हो सकता है। हमारा मानना है कि इस प्रश्न पर किसी निरपेक्षतावादी बुर्जुआ मानवतावादी दृष्टिकोण से विचार नहीं किया जा सकता है।

यहाँ एक और बात ध्यान देने की है। तमाम मानवाधिकार कार्यकर्ताओं, बुर्जुआ मानवतावादियों आदि के अलावा मृत्युदण्ड का निरपेक्ष तौर पर विरोध करने वालों में तमाम मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठन भी शामिल थे! यह एक चौंकाने वाली बात थी, क्योंकि मृत्युदण्ड के प्रश्न पर यह अवस्थिति कम-से-कम लेनिन की तो नहीं थी। इस पर हम आगे आयेंगे। लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि किसी समाजवादी व्यवस्था में भी ऐसे अमानवीय कृत्यों और साथ ही सर्वहारा राज्य के शत्रुओं में 'दुर्लभ में भी दुर्लभतम' मामलों में मृत्युदण्ड का प्रावधान हो सकता है। यहाँ सवाल सुधार या प्रतिशोध का है ही नहीं। मृत्युदण्ड का इस क़िस्म का निरपेक्षतावादी, बुर्जुआ मानवतावादी विरोध वर्ग विश्लेषण से ऊपर उठकर किया जाने वाला विरोध है और इस प्रकार का वर्ग-निरपेक्ष अराजकतावादी विरोध किसी मुकाम पर नहीं पहुँच सकता। 1918 की क्रान्ति के बाद समाजवादी रूस में भी मृत्युदण्ड को लेकर बोल्शेविकों और समाजवादी क्रान्तिकारियों/मेंशेविकों के बीच और साथ ही स्वयं बोल्शेविकों में भी आपसी बहसें हुईथीं। लेनिन इस मसले पर कहते हैं: "जब हम गोलियों का इस्तेमाल करते हैं (मृत्युदण्ड देने के लिए) तो वे (मेंशेविक) अचानक तोलस्तोयपंथी बन जाते हैं और हमारी कठोरता पर घड़ियाली आँसू बहाते हैं। वे लगता है यह भूल गये हैं कि तमाम गुप्त सन्धियों को अपनी जेबों में छिपाकर किस तरह मज़दूरों के क़त्ले-आम में उन्होंने केरेंस्की को मदद पहुँचायी थी।" लेनिन का मत साफ़ है। वर्ग युद्ध में इस तरह की वारदातों से नहीं बचा जा सकता, न सिर्फ़ युद्ध के मोर्चों पर बल्कि मृत्युदण्ड के मामलों में भी। लेकिन इस सैद्धान्तिक अवस्थिति का यह अर्थ कतई नहीं लगाया जाना चाहिए कि मृत्युदण्ड के प्रति कम्युनिस्टों में कोई अन्धभक्ति है। इसका सिर्फ़ इतना अर्थ है कि सघन वर्ग युद्धों के दौरान दुर्लभ से भी दुर्लभतम मामलों में मृत्युदण्ड दिया जा सकता है, और कम्युनिस्ट इसका निरपेक्ष मानवतावादी विरोध नहीं करते हैं। बोल्शेविकों के व्यवहार से भी यह बात सिद्ध होती है। गृहयुद्ध और पार्टी के भीतर के आपातकाल को छोड़कर सोवियत रूस में मृत्युदण्ड आम तौर पर दुर्लभ था। तमाम मामलों में जिनमें क्रान्तिकारी ट्रिब्यूनलों ने मृत्युदण्ड दिया भी था, उनमें दण्ड को घटाकर कुछ वर्षों की क़ैद में तब्दील कर दिया गया था। इतिहास बताता है कि सोवियत संघ इस मामले में बुर्जुआ जनवादी देशों में सबसे उदार देशों के मुकाबले भी पीछे ही था। हाँ, जो हिस्ट्री चैनल, डिस्कवरी चैनल और नेशनल ज्योग्राफ़िक के कार्यक्रमों को ऐतिहासिक स्रोत मानते हैं, उन्हें हम सहमत नहीं कर सकते।

यहाँ हम एक बार फिर यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अफ़ज़ल गुरू को फाँसी देना कतई ग़लत था। क्योंकि जितने साक्ष्यों के आधार पर और जिन तर्कों की बिना पर अदालत इस फ़ैसले पर पहुँची कि उसे फाँसी दी जानी चाहिए, उतने साक्ष्यों के आधार पर तो नरेन्द्र मोदी, जगदीश टाईटलर, अमित शाह सरीखे लोगों का भी यही अंजाम होना चाहिए था, और बहुत पहले ही हो जाना चाहिए था। कहने की ज़रूरत नहीं है कि इस राज्य और व्यवस्था वर्ग पक्षधरता को ज़ाहिर करने के लिए इतना भर ही काफ़ी है। अफ़ज़ल गुरू की फाँसी बुर्जुआ चुनावी राजनीति के सरोकारों के तहत लिया गया एक राजनीतिक फ़ैसला है। बुर्जुआ राज्यसत्ता का पतनशील चरित्र अब इस हद तक गिर चुका है, कि वह अपने चुनावी फायदों के लिए फाँसी की राजनीति कर रही है, ताकि फासीवादी तरीके से भारतीय मध्यवर्गीय जनमानस, या "राष्ट्रीय" जनमानस, को अपने पक्ष में तैयार किया जा सके। इसके ज़रिये एक तीर से कई निशाने लगाये जा रहे हैं। जिस समय देश भर में आम मेहनतकश जनता में महँगाई, ग़रीबी, भ्रष्टाचार आदि के ख़िलाफ़ और भारतीय शासक वर्गों के ख़िलाफ़ गुस्सा भड़क रहा है, उस समय अन्धराष्ट्रवाद, साम्प्रदायिक फासीवाद और देशभक्ति के मसलों को उठाकर असली मुद्दों को ही विस्थापित कर दिया जाये–यही भारतीय शासक वर्ग की रणनीति है। यही काम भाजपा राम मन्दिर और हिन्दुत्व का मसला भड़काकर अपने तरीके से कर रही है, और कांग्रेस फाँसी की राजनीति करते हुए अपने तरीके से कर रही है। अफ़ज़ल गुरू की फाँसी इसी बात की एक बानगी थी।

● शिवानी

मक्सिम गोर्की के जन्मदिवस (28 मार्च) पर – एक साहित्यिक परिचय

मक्सिम गोर्की (28 मार्च 1868 – 18 जून 1936) को पूरी दुनिया में महान लेखक और समाजवादी यथार्थवाद के प्रवर्तक के रूप में जाना जाता है। रूस में जारशाही के दौरान 1907 में हुई असफल क्रान्ति से लेकर 1917 में हुई अक्टूबर समाजवादी क्रान्ति और उसके बाद के समाजवादी निर्माण तक के लम्बे दौर में मक्सिम गोर्की ने अपनी कहानियों, नाटकों, लेखों और उपन्यासों के माध्यम से हर क़दम पर जनता को अपनी परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा दी। वह अपने समय में दबी-कुचली जनता के आत्मिक जीवन के भावों की आवाज बनकर उभरे। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर अक्टूबर क्रान्ति के बाद लगभग 40 वर्षों के दौरान गोर्की अपनी कलम से रूसी साहित्य और जनता में बदलाव के लिये एक नई ऊर्जा का संचार करते रहे। साथ ही उनका सारा सृजन भी जनता के जीवन और संघर्षों से करीब से जुड़ा रहा।

समाज के दबे कुचले वर्गों से बचपन से ही जीवन्त सम्पर्क में रहने वाले गोर्की के लेखन को उनके जीवन और उस समय के रूसी समाज के परिप्रेक्ष्यन में रखकर देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि उनके साहित्यिक सृजन का स्रोत क्या था। गोर्की के माता-पिता बचपन में नहीं रहे थे और उनका बचपन अपनी नानी के यहाँ बीता जहाँ उन्हें एक रूसी मधयवर्गीय परिवारिक माहौल मिला। नानी की मृत्यु के बाद सम्पत्ति को लेकर परिवार में लड़ाई-झगड़े होने लगे जिसके बाद गोर्की ने 13 साल की उम्र में घर छोड़ दिया और कई जगह काम बदलते हुये रूस के कई हिस्सों में घूमते रहे। इस दौरान उन्हें समाज को और करीब से देखने का मौका मिला और वह कई प्रकार के लोगों के सम्पर्क में आये। इस तरह गोर्की बचपन से ही एक मजदूर के रूप में पले-बढ़े और घर में काम से लेकर बेकरी के कारखानों, जहाजों और खेतों तक कई काम करते उनका बचपन मेहनत और संघर्ष करते हुये बीता।

आने वाले समय में बचपन के यह अनुभव ही उनके साहित्यिक रचनाओं का आधार बने और वह जनता के मुक्ति संघर्ष का हिस्सा बनकर उभरे। अपने पूरे साहित्यिक सृजन में गोर्की ने रूसी जीवन की कड़वी सच्चाई का यथार्थवादी चित्रण किसी व्यद्रि के ख़ष्टिकोण से नहीं किया है, बल्कि वह उन परिस्थितियों को बदलने के लिये एक प्रेरणास्रोत की तरह पाठक के सामने प्रकट होते हैं। गोर्की के शब्दों में, "सत्य दया से अधिाक महत्व रखता है। और आज मैं अपनी नहीं, वरन् दम घोंटनेवाले उस भयंकर वातावरण की कहानी लिखने बैठा हूँ, जिसमें साधारण रूसी जनता रहा करती थी और आज भी रहती है।" "पुरानी दुनिया अवश्य ही जानलेवा रोग से ग्रस्त है और हमें उस संसार से शीघ्रातिशीघ्र पिण्ड छुड़ा लेना चाहिये ताकि उसकी विषैली हवा कहीं हमें न लग जाये।"

बचपन में समय-समय पर गोर्की का परिचय उस समय के रूस में जारशाही निरंकुशता एवं दमन उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष करने वाले क्रान्तिकारियों से होता रहा, जिनके जीवन का उनके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा, "उन अनगिनत लोगों में से पहले व्यद्रि से मेरी मित्रता का अन्त हुआ, जो देश के सर्वश्रेष्ठ सपूत होते हुए भी अपने ही वतन में अजनबी से हैं.."। इन लोगों के सम्पर्क ने गोर्की को किताबों से परिचित कराया। गोर्की की जीवन परिस्थितियों ने उन्हें किसी स्कूल या विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने का कोई अवसर नहीं दिया, लेकिन उन्होंने स्वाध्याय और जनता से जुड़े रहकर प्राप्त अनुभव को अपनी शिक्षा का केन्द्र बनाया। गोर्की के शब्दों में, "मैं अपनी उपमा मधुमक्खी के छत्ते से दे सकता हूँ, जिसमें देश के अगणित साधारण प्राणियों ने अपने ज्ञान और दर्शन का मधु लाकर संचित किया है। सबों की बहुमूल्य देन से मेरे चरित्र का विकास हुआ। अक्सर देने वाले ने गन्दा और कड़वा मधु दिया, फिर भी था तो वह ज्ञान-मधु ही।"

गोर्की अपने बचपन में ही जारशाही काल में रूसी जनता की ग़रीबी और उत्पीड़न को देख चुके थे और इस सच्चाई से अवगत हो चुके थे कि किस तरह उस समाज में एक बड़े हिस्से को दबे-कुचले तबकों के रूप में रहने और जानवरों की तरह जीवन व्यतीत करने के लिये मजबूर किया गया था, "मैं उनके बीच अपने आप को जलते अँगारों में डाल दिये गये जलते लोहे के टुकड़े की तरह महसूस करता था – हर रोज मुझे अनेक तीखे अनुभव प्राप्त होते। मानव अपनी सम्पूर्ण नग्नता के साथ सामने आता था – स्वार्थ और लोभ का पुतला बनकर। जीवन के प्रति उनका क्रोध, दुनिया की हर चीज के प्रति उनका उपहासजनक शत्रुता का भाव और साथ ही अपने प्रति उनका फक्कड़पन –"

अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में ही गोर्की का परिचय तोलस्तोय और चेखव जैसे रूस के महान यथार्थवादी लेखकों से हुआ। गोर्की शुरुआती दिनों से ही क्रान्तिकारी आन्दोलनों से जुड़े रहे। बाद में कम्युनिस्ट पार्टी बोल्शेविक में शामिल होकर जनता के संघर्षों में काफ़ी करीब से जुड़ गये और इसी दौरान उन्होंने पार्टी में शामिल मज़दूरों और क्रान्तिकारियों के जीवन और संघर्ष पर आधाारित अपना विश्व प्रसिद्ध उपन्यास 'माँ' द्ध1906ऋ लिखा जिसके बारे में लेनिन ने कहा था कि इसे पढ़कर उन सभी मजदूरों को क्रान्ति के उद्देश्यों को समझने में मदद मिलेगी जो स्वत:स्फूर्त ढंग से आन्दोलन में शामिल हो गये हैं।

आज भी, जबकि पूरी दुनिया के मजदूर आन्दोलन ठहराव के शिकार हैं और प्रगति पर प्रतिरोध की स्थिति हावी है, ऐसे में गोर्की के उपन्यास और कहानियाँ पूरी दुनिया की जनता के संघर्षों के लिये अत्यन्त प्रासंगिक हैं। आज भी उनकी रचनायें पूरी दुनिया की मेहनतकश जनता को एक समतावादी समाज के निर्माण के लिये उठ खड़े होने और परिस्थितियों को बदल डालने के लिये संघर्ष करने, एक क्रन्तिकारी इच्छाशद्रि पैदा करने और सर्वहारा वर्ग चेतना को विकसित करने की प्रेरणा देती हैं। गोर्की का साहित्य हमारे मन में वर्तमान समाज में

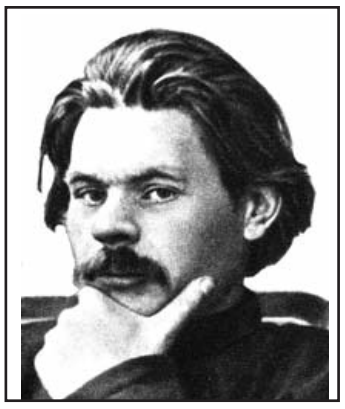

जनता की बदहाल परिस्थितियों के प्रति नफ़रत ही नहीं बल्कि उन परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष करने और उन्हें बदलने की इच्छा भी पैदा करता है।

गोर्की अपने उपन्यास 'माँ' में एक मज़दूर के शब्दों में विचार प्रकट करते हुए कहते हैं, "क्या हम सिर्फ़ यह सोचते हैं कि हमारा पेट भरा रहे? बिल्कुल नहीं" "हमें उन लोगों को जो हमारी गर्दन पर सवार हैं और हमारी आँखों पर पट्टियाँ बाँधे हुए हैं यह जता देना चाहिए कि हम सब कुछ देखते हैं। हम न तो बेवकूफ़ हैं और न जानवर कि पेट भरने के अलावा और किसी बात की हमें चिन्ता ही न हो। हम इंसानों का सा जीवन बिताना चाहते हैं! हमें यह साबित कर देना चाहिए कि उन्होंने हमारे ऊपर ख़ून पसीना एक करने का जो जीवन थोप रखा है, वह हमें बुद्धि में उनसे बढ़कर होने से रोक नहीं सकता!"

गोर्की ने रूस की दलित उत्पीड़ित जनता का जीवन जितने क़रीब से देखा था उतने ही स्पष्ट रूप से उसको अपने साहित्य में चित्रित किया और व्यापक जनसमुदाय को शिक्षित करने में एक अत्यन्त ऐतिहासिक भूमिका निभाई। अपनी आत्मकथा में गोर्की ने लिखा है, "दुनिया में अन्य कोई चीज़ आदमी को इतने भयानक रूप से पंगु नहीं बनाती जितना कि सहना और परिस्थितियों की बाध्यता स्वीकार कर उनके सामने सिर झुकाना।" गोर्की ने अपनी कहानियों, नाटकों, उपन्यासों और लेखों के माध्यम से समाज को सिर्फ़ चित्रित ही नहीं किया बल्कि उन्हें एक हथियार की तरह इस्तेमाल किया, "क्या यह ज़रूरी है कि इस हद तक घिनौनी बातों का वर्णन किया जाये? हाँ, यह ज़रूरी है! यह इसलिये ज़रूरी है श्रीमान कि आप धोखे में न रहें, कहीं यह न समझने लगें कि इस तरह की बातें केवल बीते जमाने में हुआ करती थीं! आज भी आप मनगढ़न्त और काल्पनिक भयानकताओं में रस लेते हैं, सुन्दर ढंग से लिखी भयानक कहानियाँ और किस्से पढ़ने में आपको आनन्द आता है। रोंगटे खड़े कर देने वाली कल्पनाओं से आपके हृदय को सनसनाने और गुनगुनाने से आप ज़रा भी परहेज़ नहीं करते। लेकिन मैं सच्ची भयानकताओं से परिचित हूँ, आए-दिन के जीवन की भयानकताओं से, और यह मेरा अवंचनीय अधिकार है कि उनका वर्णन करके आपके हृदयों को कुरेदूं, उनमें चुभन पैदा करूँ ताकि आपको ठीक-ठीक पता चल जाये कि किस दुनिया में और किस तरह का जीवन आप बिताते हैं।" "कमीना और गन्दगी से भरा घिनौना जीवन है यह जो हम सब बिताते हैं।" "मैं मानव-जाति से प्रेम करता हूँ और चाहता हूँ कि उसे किसी भी तरह के दु:ख न पहुँचाऊँ, परन्तु इसके लिये न तो हमें भावुकता का दामन पकड़ना चाहिये और न ही चमकीले शब्द-जाल और ख़ूबसूरत झूठ की टट्टी खड़ी करके जीवन के भयानक सत्य को हमें छिपाना चाहिये! ज़रूरी है कि हम जीवन की ओर मुँह करें और हमारे हृदय तथा मस्तिष्क में जो कुछ भी शुभ और मानवीय है, उसे जीवन में उड़ेल दें।"

एक भौतिकवादी होने के नाते गोर्की मनुष्यों के स्वभाव के लिये परिस्थितियों को ज़ि म्मेदार मानते थे और इसलिए वह जीवन की भौतिक परिस्थितियों को बदलने पर जोर देते थे, "रूसी अपनी ग़रीबी और नीरसता के कारण ऐसा करते हैं। व्यथा और रंज उनके मनबहलाव के साधन हैं।" "जब जीवन की धारा एकरस बहती है तो बिपत्ति भी मन बहलाने का साधन बन जाती है। घर में आग लग जाना भी नवीनता का रस प्रदान करता है।"

गोर्की अपने समय के वर्तमान जीवन की आलोचना के साथ ही वर्ग समाज में प्रतिस्पर्धा की होड़ में होने वाले मनुष्यों के व्यक्तिगत विघटन की कड़ी आलोचना करते थे और उनका मानना था कि जब तक मेहनत करने वालों की मेहनत को कुछ परजीवी हड़पते रहेंगे तब तक समाज में शान्ति नहीं हो सकती, "समूचे वातावरण में एक-दूसरे को भक्षण करने की एक अराजक प्रक्रिया निरन्तर लागू है; सभी मनुष्य एक दूसरे के दुश्मन हैं; अपना-अपना पेट भरने की इस गन्दी लड़ाई में भाग लेने वाला हर आदमी सिर्फ़ अपनी ही सोचता है और अपने चारो ओर सन्देह की दृष्टि से देखता है, ताकि पड़ोसी कहीं उसका गला न धर दबोचें। थकाने वाली इस पाशविक लड़ाई के भँवर में फँसकर बुद्धि की श्रेष्ठतम शक्तियाँ दूसरों से अपनी रक्षा करने में ही नष्ट हो जाती हैं, मानव अनुभव की वह उपलब्धि जिसे "मैं" कहते हैं, एक अँधेरा तहखाना बन जाती है जिसके अन्दर अनुभव को और अधिक समृद्ध न करने और पुराने अनुभव को तहखाने की दम घोंटनेवाली कोठरियों में बन्द रखने की क्षुद्र प्रवृत्तियाँ हावी रहती हैं। भरे पेट के अलावा आदमी को और क्या चाहिए? इस लक्ष्य को पाने के लिए मनुष्य अपने उच्चादर्शों से फिसलकर गिर गया है और ज़ख्मी होकर आँखें फाड़े, पीड़ा से चीखता और कराहता नीचे पड़ा है।"

जनता के मुक्तिसंघर्ष में पूरा विश्वास रखने वाले और एक क्रान्तिकारी के रूप में उस संघर्ष में शामिल रहते हुये जीवन के प्रति गोर्की का दृष्टिकोण आशावाद और जनता में दृढ़ विश्वास से भरा हुआ था, "हमारे जीवन की यही विलक्षणता नहीं है कि वह बर्बरता और पाशविकता की मोटी तह में लिपटा हुआ है, बल्कि यह कि इस तह के नीचे से आलोकमय, सबल, सृजनात्मक और भलाई की शक्तियाँ विजयी होकर बाहर आ रही हैं और यह दृढ़ आशा पैदा कर रही हैं कि वह दिन दूर नहीं, जब हमारे देश की जनता के जीवन में सौन्दर्य एवं आलोकपूर्ण मानवता का सूर्य उगेगा और अवश्य उगेगा।"

गोर्की का पूरा जीवन और उनका साहित्यिक कार्य पूरी दुनिया के मज़दूरों के लिये एक प्रेरणास्रोत है, और अन्याय के विरुद्ध कदम-कदम पर हमें संघर्ष करने के लिये प्रोत्साहित करता है। उनका मानना था, "पूँजीवादी समाज में कुल मिलाकर मनुष्य अपने अद्भुत सामर्थ्य को निरर्थक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये बर्बाद करता है। अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने के लिये उसे गली में हाथों बल चलना पड़ता है, द्रुतगति के ऐसे रिकार्ड स्थापित करने पड़ते हैं जिनका कुछ कम या कुछ भी व्यावहारिक मूल्य नहीं होता, एक ही वक्त में बीसियों के साथ शतरंज के मैच खेलने, अद्भुत कलाबाज़ियाँ खाने और काव्य-रचना के झूठे चमत्कार प्रदर्शित करने पड़ते हैं, और साधारणतया हर प्रकार की ऐसी बेसिरपैर की हरकतें करनी पड़ती हैं जिनसे उकताये तथा ऊबे हुए लोगों को पुलकित किया जा सके।. . . ."

अक्टूबर क्रान्ति के बाद सोवियत यूनियन में गोर्की अपने अन्तिम दिनों तक समाजवादी खेमे के अनेक युवा लेखकों का जोश के साथ नेतृत्व कर रहे थे। "अग्नि-दीक्षा" उपन्यास के लेखक निकोलाई ओस्त्रेव्स्की ने 1936 में गोर्की के बारे में लिखा है, "हमारी टुकड़ी का कमाण्डर ऊँचे कद का, सफ़ेद बालों वाला कमाण्डर – प्रसिद्ध और सम्मानप्राप्त, अपनी कला में सिद्धहस्त अपनी मूँछों पर हाथ फेरते हुए, धीरे से बड़े गंभीर लहजे में कहता है : "इन घिसटनेवालों का क्या करूँ? पीछे कहीं बैठे नाश्ता कर रहे होंगे" – अगले दस्ते से कहीं 50 मील पीछे होंगे। उनकी पाकशाला पीछे कहीं दलदल में धँस गई है। मेरे बालों को ये लज्जित कर रहे हैं।" यह मज़ाक है ज़रूर, मगर एक कड़वा मज़ाक, इसमें सचाई कम नहीं।"

अन्त में गोर्की के ही शब्दों में, "मेरे लिये मानव से परे विचारों का कोई अस्तित्व नहीं है। मेरे नज़दीक मानव तथा एकमात्र मानव ही सभी वस्तुओं और सभी विचारों का निर्माता है। चमत्कार वही करता है और वही प्रख्रति की सभी भावी शद्रियों का स्वामी है। हमारे इस संसार में जो कुछ अति सुन्दर है उनका निर्माण मानव श्रम, और उसके कुशल हाथों ने किया है। हमारे सभी भाव और विचार श्रम की प्रक्रिया में उत्पन्न होते हैं और यह ऐसी बात है, जिसकी कला, विज्ञान तथा प्रविधिाका इतिहास पुष्टि करता है। विचार तथ्य के पीछे चलता है। मैं मानव को इसलिये प्रणाम करता हूँ कि इस संसार में कोई ऐसी चीज नहीं दिखाई देती जो उसके विवेक, उसकी कल्पनाशद्रि, उसके अनुमान का साकार रूप न हो।

"यदि "पावन" वस्तु की चर्चा आवश्यक ही है, तो वह है अपने आप से मानव का असन्तोष, उसकी यह आकाँक्षा कि वह जैसा है उससे बेहतर बने। ज़िन्दगी की सारी गन्दगी के प्रति जिसे उसने स्वयं जन्म दिया है, उसकी घृणा को मैं पवित्र मानता हूँ। ईष्या, धनलिप्सा, अपराध, रोग, युद्ध तथा संसार में लोगों के बीच शत्रुता का अन्त करने की उसकी इच्छा और उसके श्रम को पवित्र मानता हूँ।"

– राजकुमार

8 मार्च अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर ''मजदूर अधिकार रैली''

8 मार्च अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर स्त्री मजदूर संगठन और करावल नगर मजदूर यूनियन ने करावल नगर इलाके में मजदूर अधिकार रैली का आयोजन किया। इस रैली में बादाम उद्योग, फैक्टरी मजदूर व निर्माण मजदूर भी शामिल थे। रैली में करीब 200 मजदूरों, छात्रों व नौजवानों ने हिस्सा लिया। रैली की शुरूआत न्यू सभापुर के सरकारी स्कूल होते हुऐ करावल नगर औद्योगिक क्षेत्र में पहुँची। रैली में मजदूर महिलाओं ने गगनभेदी नारे लगाये जिसमें प्रमुख थे ' अब चलो नई शुरूआत करो! स्त्री मुक्ति की बात करो!!, 'मजदूरों ने जान लिया है! हक लेना हैं ठान लिया हैं!!'

रैली के समापन सभा में स्त्री मजदूर संगठन की शिवानी ने सभा को सम्बोधित करते हुए कहा कीआज ही के दिन 103 साल पहले दुनिया के कई देशों की मेहनतकश स्त्रियों की नेताओं ने एक सम्मेलन में फैसला किया था कि हर साल 8 मार्च को 'अन्तरराष्ट्रीय स्त्री दिवस' मनाया जायेगा। यह दिन हर साल हमें हक़, इंसाफ और बराबरी की लड़ाई में नौलदी इरादे के साथ शामिल होने की याद दिलाता है। पिछली सदी में दुनिया की औरतों ने संगठित होकर कई अहम हक़ हासिल किये। मजदूरों की हर लड़ाई में औरत भी कन्धे से कन्धा मिलाकर शामिल हुई। रूस-चीन आदि कई देशों में समाजवाद लाने में और भारत जैसे गुलाम देशों को आज़ाद कराने में औरतों की बड़ी हिस्सेदारी थी।

लेकिन गुज़रे बीस-पच्चीस वर्षों में ज़माने की हवा थोड़ी उल्टी चल रही है। अपने देश में और पूरी दुनिया में, लुटेरे कमेरों पर हावी हो गये हैं। लूट-खसोट

का बोलाबाला है। मजदूरों ने लम्बी लड़ाई से जो हक़ हासिल किये थे वे सभी छीने जा रहे हैं। कानून बदले जा रहे हैं। पुलिस और फौज-फाटे से हक़ की हर आवाज़ दबा दी जा रही है। मजदूर औरत-मर्द बारह-चौदह घण्टे हाड़ गला कर भी दो जून रोटी, तन ढाँकने को कपड़े, सिर पर छत, दवा-इलाज और बच्चे की पढ़ाई का जुगाड़ नहीं कर पाते। दूसरी तरु थैलीशाहों, अफ़सरों, नेताओं के भोग-विलास और धान-दौलत का बखान करने के लिए शब्द कम पड़ जायेंगे।

मेहनतकश औरतों की हालत तो नर्क से भी बदतर है। हमारी दिहाड़ी पुरुष मज़दूरों से भी कम होती है जबकि सबसे कठिन और महीन काम हमसे कराये जाते हैं। कानून सब किताबों में धरे रह जाते हैं और हमें कोई हक़ नहीं मिलता। कई फैक्ट्रियों में हमारे लिए अलग शौचालय तक नहीं होते, पालनाघर तो दूर की बात है। दमघोंटू माहौल में दस-दस, बारह-बारह घण्टे खटने के बाद, हर समय काम से हटा दिये जाने का डर। मैनेजरों, सुपरवाइज़रों, फोरमैनों की गन्दी बातों, गन्दी निगाहों और छेड़छाड़ का भी सामना करना पड़ता है। ग़रीबी से घर में जो नर्क का माहौल बना होता है, उसे भी हम औरतें ही सबसे ज़्यादा भुगतती हैं।

सभा में स्त्री मजदूर संगठन की टोली ने 'अभी लड़ाई जारी हैं' गीत प्रस्तुत किया। इसके बाद करावल नगर मजदूर यूनियन के नवीन ने सभा को सम्बोधित करते हुए कहा किअकेले दिल्ली और नोएडा में लाखों औरतें कारख़ानों में खट रही हैं। अगर हम एका बनाकर मुठ्टी तान दें तो हमारी आवाज़ भला कौन दबा सकता है? साथियो! बिना लड़े कुछ नहीं मिलता। मेहनतकशों के बूते ही यह समाज चलता है और उनमें हम औरतें भी शामिल हैं। गुलामी की ज़िन्दगी तो मौत से भी बदतर होती है। हमें उठ खड़ा होना होगा। हमें अपने हक़, इंसाफ और बराबरी की लड़ाई की नयी शुरुआत करनी होगी। सबसे पहले हमें थैलीशाहों की चाकरी बजाने वाली सरकार को मजबूर करना होगा कि मज़दूरी की दर, काम के घण्टे, कारखानों में शौचालय, पालनाघर वगैरह के इन्तज़ाम और इलाज वगैरह से सम्बन्धित जो क़ानून पहले से मौजूद हैं, उन्हें वह सख़्ती से लागू करवाये। फिर हमें समान पगार, ठेका प्रथा के ख़ात्मे, गर्भावस्था और बच्चे के लालन-पालन के लिए छुट्टी के इन्तज़ाम, रहने के लिए घर, दवा-इलाज और बच्चों की शिक्षा के हक़ के लिए एक लम्बी, जुझारू लड़ाई लड़नी होगी। शाम को यूनियन द्वारा ''मुम्बई हमारा शहर'' फिल्म प्रदर्शित की गयी।

'रेजिंग दि बैनर' नाम की यह प्रसिद्ध पेंटिंग रूसी चित्रकार गैली कोर्झेव ने 1957-60 के दरमियान बनायी थी। यह गैली कोर्झेव के त्रिफलक चित्र 'कम्युनिस्ट्स' का हिस्सा है।

अन्तरराष्ट्रीय स्त्री दिवस (8 मार्च) पर

बहनो! साथियो!
अपनी सुरक्षा घरों की चारदीवारियों में कैद होकर नहीं की जा सकती।
बर्बरता वहाँ भी हम पर हमला कर सकती है,
रूढ़ियाँ हमें तिल-तिलकर मारती हैं वहां
अँधोरा हमारी आत्मा के कोटरों में बसेरा बना लेता है।
हमें बाहर निकलना होगा सड़कों पर
और मर्दवादी रुग्णताओं-बर्बरताओं का मुकाबला करना होगा।
समझाओ यह बात अपनी दोस्तों और बहनों को,
अम्मा और दादी को, पिताजी और भइया को,
यदि शादीशुदा हो तो अपने पति को, मित्रों-सहपाठियों को।
गुलामी की यंत्रणा का सामना नहीं किया जा सकता
स्वयं क़ैदी बनकर।
आम नागरिकों को भी समझाना होगा
एक बेहतर समाज में बेहतर तरीके से जीने के सलीके के बारे में
और बताना होगा कि इसकी एक बुनियादी गारण्टी
और पहचान है औरत की बराबरी का दर्जा,
उसका सुरक्षित आत्मसम्मान और
उसकी अस्मिता।

बहनो! साथियो!
लोगों को समझानी होगी यह बात कि जो गुलाम बनायेंगे
वे गुलाम बने रहने को अभिशप्त होंगे।
घरों में औरत को गुलाम बनाने वाले लोग नहीं लड़ सकते
पूँजी के ख़िलाफ़ प्रभावी लड़ाई।
पूँजी की मानवद्रोही सत्ता के ख़िलाफ़ लड़ाई
तभी ताक़तवर हो सकती है और जीत तभी हासिल हो सकती है
जब आधी आबादी बाक़ी आधी आबादी को भी बराबरी का दर्जा दे,
अपने साथ ले और सड़कों पर चल रही ज़िन्दगी की
जद्दोजहद में उसे भी अपना हमसफ़र बनाये।
बताना होगा अपने लोगों को कि
जीवन में फैली हर तबाही-बर्बादी की जड़ में
समाज और राजकाज का जो ढाँचा है,
उसी ढाँचे के मालिकों ने-शासकों ने और उनके
जरख़रीद चाकरों ने बाँटा है औरत और मर्द को असमान दर्जों में,
सदियों से बनाते रहे हैं वे ऐसे नैतिक-सामाजिक नियम और विधान
और उन्हें वक़्त की ज़रूरत के हिसाब से
शातिर और बारीक बनाते रहे हैं।
समाज, राजकाज और संस्कृति के इन ढाँचों को तोड़ने के लिए
ज़रूरत है औरत-मर्द के बीच खड़ी
असमानता की दीवारों से लगातार टकराने की,
तभी एक कामयाब लड़ाई लड़ी जा सकेगी इस मानवद्रोही व्यवस्था के ख़िलाफ़
और तभी जाकर टूटेंगी औरत की गुलामी की सारी ज़ंजीरें और बेड़ियाँ।

यूनियनों के सालाना अनुष्ठान में मज़दूर असन्तोष की 'विघ्न-बाधा'!

(पेज 16 से आगे)

की ज़रूरत नहीं है। मज़दूरों के हक़ों के लिए एकजुट और जुझारू लड़ाई की लम्बी तैयारी आज वक़्त की माँग है। इसके लिए सबसे पहले ज़रूरी है कि मज़दूर दलाल यूनियनों और नकली लाल झण्डे वाले नेताओं को धता बताकर अपनेआप को व्यापक आधार वाली क्रान्तिकारी ट्रेड यूनियनों में संगठित करें। एक-एक कारख़ाने में दुअन्नी-चवन्नी के लिए लड़ने के बजाय मज़दूर वर्ग के तौर पर पहले उन क़ानूनी अधिकारों के लिए आवाज़ उठायें जिन्हें देने का वायदा सभी सरकारें करती हैं। और हर छोटे-बड़े हक़ की लड़ाई में क़दम बढ़ाते हुए यह कभी न भूलें कि गुलामी की ज़िन्दगी से मुक्ति के लिए उन्हें इस पूँजीवादी व्यवस्था को ख़त्म करने की लम्बी लड़ाई में शामिल होना ही होगा।

मज़दूर साथियो, आपको 'मज़दूर बिगुल' कैसा लगता है, इसमें क्या अच्छा लगता है और क्या कमियाँ नज़र आती हैं, इसे और बेहतर कैसे बनाया जा सकता है – इन बातों पर भी आपकी राय जानने से हमें मदद मिलेगी। आप नीचे दिये पते पर हमें पत्र लिख सकते हैं या बिगुल कार्यकर्ता साथी को ज़ुबानी भी बता सकते हैं।
– सम्पादक मण्डल

पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड,
निशातगंज, लखनऊ-226006
फ़ोन : 0522-2335237

डाक पंजीयनः SSP/LW/NP-319/2011-2013
प्रेषित डाकघरः आर.एम.एस. चारबाग, लखनऊ
प्रेषित तिथिः दिनांक 20 प्रत्येक माह

दो दिनों की "राष्ट्रव्यापी" हड़ताल

यूनियनों के सालाना अनुष्ठान में मज़दूर असन्तोष की 'विघ्न-बाधा'!

वर्ष 1991 से देश में निजीकरण-उदारीकरण की वे नीतियाँ लागू करने का सिलसिला शुरू हुआ जिनके तहतमालिकों को मज़दूरों की हड्डियाँ तक निचोड़ लेने की खुली छूट दी गयी और मज़दूरों के तमाम अधिकार एक-एककरके छिनते चले गये। तब से लेकरअब तक 15 बार सारी बड़ी-बड़ी केन्द्रीय यूनियनें मिलकर "देशव्यापी हड़ताल"और "भारत बन्द" करा चुकी हैं।लेकिन ऐसी हर हड़ताल और बन्द के बाद मज़दूरों की हालत में सुधार के बजाय उनकी लूट और शोषणमें बढ़ोत्तरी ही होती रही है।

पिछली 20-21 फरवरी को जो हड़ताल हुई वह भी पिछले तमाम तमाशों से अलग नहीं होने वाली थी।इसे आयोजित करनेवालों में केन्द्र में सत्तारूढ़ कांग्रेस पार्टी से जुड़ी इण्टक, कई राज्यों में सरकारें चला रही भारतीय जनता पार्टी से जुड़ी बीएमएस, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीएम) सेजुड़ी सीटू, सीपीआई से जुड़ी एटक सहित दर्जनभर केन्द्रीय यूनियनें शामिल थीं। इन यूनियनों से जुड़े बहुत से नेता तोसंसद और विधानसभाओं में भी बैठते हैं जहाँ पर जनता को लूटने वाली सारी नीतियाँ बनती हैं। सरकार और पूँजीपतियों के संगठनों को भी ज़्यादा चिन्ता नहीं थी। आख़िर हर साल तो सालाना अनुष्ठान की तरह हड़ताल का तमाशा वे देखते ही रहे हैं। बस फ़र्क़ इतना था कि एकदिन की फुसफुसी 'टोकन' हड़ताल को लेकर मज़दूरों-कर्मचारियों में बढ़ती उपेक्षा के मद्देनज़र इस बार दो दिन की हड़ताल करने का "बहादुरी-भरा" ऐलान किया गया था। मगर यह भी कुछ ऐसा ही था जैसे कई बार पण्डितों के आपसी झगड़े के चक्कर में होली दो दिन की हो जाती है।

लेकिन मज़दूर इस कदर आक्रोश में हैं इसका अन्दाजा किसी को नहीं था।इसीलिए जब नोएडा और कुछ अन्य स्थानों पर मज़दूरों केएक हिस्से ने सड़कों पर उग्र होकर अपना गुस्सा निकालातो सरकार से लेकर यूनियनों के नेता तक बौखला उठे। पिछले 20-21 साल के दौरान निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों का बुलडोज़र मज़दूरों पर चलता रहा है, पहले सेमिले हुए उनके अधिकार भी एक-एक करके छीने जाते रहे हैं और सभी पार्टियों की सरकारें इसमें शामिल रही हैं।इण्टक और बीएमएस के नेता तो इन नीतियों का उग्र विरोध करने की बात सोच भी नहीं सकते, मगर मज़दूरों कीरहनुमाई का दावा करने वाले नकली वामपंथियों ने भी संसद में गत्ते की तलवार भाँजने और टीवी पर गाल बजाने केअलावा और कुछ नहीं किया है। करें भी कैसे? पश्चिम बंगाल और केरल में जहाँ उनकी सरकारें थीं, वहाँ तो वे उन्हींनीतियों को ज़ोर-शोर से लागू कर रहे थे। लेकिन मज़दूर वर्ग के इन ग़द्दारों की मजबूरी यह है कि अपनी दुकान का शटरडाउन होने से बचाने के लिए उन्हें मज़दूरों के बीच अपनी साख बचाये रखने के लिए कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा।इसीलिए वे बीच-बीच में विरोध के नाम पर कुछ नाटक-नौटंकी करते रहते हैं। सभी पार्टियों को मज़दूरों-कर्मचारियों केवोट चाहिए, इसलिए एक तरफ वे संसद में बैठकर मज़दूरों को लूटने-खसोटने वाली नीतियाँ बनाती हैं और दूसरी तरफबीच-बीच में मज़दूरों के हित की चिन्ता का दिखावा भी करती रहती हैं।

ट्रेड यूनियन की बड़ी-बड़ी दुकानें चलाने वाले मज़दूर-हितों के वामपंथी सौदागरों का सबसे बड़ा आधार सार्वजनिकक्षेत्र के उपक्रमों में संगठित मज़दूर तथा निजी क्षेत्र के कुछ बड़े उद्योगों में काम करने वाले संगठित मज़दूरों के बीच था।निजीकरण-उदारीकरण की आँधी में सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के लाखों संगठित मज़दूरों की नौकरियाँ तो गयीं ही, इनधन्धेबाज़ों के ज़्यादातर तम्बू-कनात भी उखड़ गये। आज देश की 45-46 करोड़ मज़दूर आबादी में से करीब 93 प्रतिशतअसंगठित मज़दूर हैं जिन्हें संगठित करने की बात तो दूर, उनकी माँग उठाना भी ट्रेड यूनियन के इन मदारियों ने कभीज़रूरी नहीं समझा। मगर मज़दूरों की इस भारी आबादी में भीतर-भीतर सुलगते गुस्से और बग़ावत की आग को भाँपकरपिछले कुछ समय से ये न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे, ठेका प्रथा जैसी माँगों के सहारे असंगठित मज़दूरों के बीच अपनी नाक बचाने केलिए उछलकूद कर रहे हैं। लेकिन इनके सारे संगठन ऊपर से नीचे तक इतने ठस और जर्जर हो चुके हैं कि चाहकर भी येअपनी ताक़त का ज़ोरदार प्रदर्शन नहीं कर पाते। दूसरे, असंगठित मजदूरों की भारी आबादी से कटे होने के कारण इन्हें यह पता भी नहीं चल पाता कि मज़दूरों के भीतर कितना गुस्सा भरा हुआ है।

20 फरवरी को नोएडा के मजदूरों के भीतर वर्षों से धधक रहा गुस्सा सड़कों पर फूट पड़ा। इस इलाके में8000 से ज्यादा कारख़ाने हैं जहाँ मज़दूरों को वैसे ही पेरा जाता है जैसे गन्ना या तिलहन। इतना सब होने पर उनकीसुनवाई नहीं होती और उम्मीद की जाती है कि ये मज़दूर बिना चूँ-चपड़ किये मालिकों की तिजोरियां भरते रहें।पूँजीपतियों और सरकार कोपूरा भरोसा था कि उनकी पालतू ट्रेड यूनियनें इस बार भी हड़ताल के अनुष्ठान को बिना किसीविघ्न-बाधा के पूरा कर लेंगी। इसलिए पुलिस और प्रशासन भी निश्चिन्त थे। दूसरी ओर इन दलाल ट्रेडयूनियनों को ज़रा भी अन्देशा नहीं था किनकली विरोध की नौटंकी से उकताये मज़दूरों का नेतृत्व उनके हाथ से निकल जाने वाला है। चूँकिमज़दूर यह नहीं जानते कि इस सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष में उनका असली दुश्मन कौन है और इससंघर्ष को कैसे आगे बढ़ाना है ऐसे में उनके गुस्से का अराजक विस्फोट होना लाज़िमी था और वही हुआ। वास्तव में यूनियनें हड़ताल के नाम पर केवल दिखावा कर रही थीं जबकि अपने हालात से तंग मज़दूर संघर्ष के लिए जोश से भरे हुए थे। मज़दूरों के जोश को देखकर यूनियनों के नेतागण चुपचाप खिसक गये और मज़दूरों को अकेला छोड़ दिया। राजनीतिक नेतृत्व के अभाव में आन्दोलित मज़दूरों ने अराजकता की राह पकड़ी और उनकागुस्सा कम्पनियों की बिल्डिंगों और मैनेजरों की कारों पर फूट पड़ा।

इस घटना के तुरन्त बाद ही ख़बरिया चैनल सक्रिय हो गये। सब कुछ जानते हुए भी उन्होंनेमज़दूरों को गुण्डा, अपराधी, दंगाई बताना शुरू कर दिया। अख़बारों की सुर्खियाँ भी यही भाषा बोल रही थीं। दूसरी ओर नोएडा के कारख़ानेदारों की एसोसिएशन ने मज़दूरों पर'रासुका' यानी 'राष्ट्रीय सुरक्षा कानून' के तहत मुकदमा दर्ज करने का शोर मचाना शुरू कर दिया। सरकार ने बिना समय गवाये उनकी माँग मान ली। तुरत-फुरत एक सरकारी जाँच दल बना जिसे तीन दिन में अपनी रिपोर्ट सौंपने को कहा गया। सभी जानते हैं कि मज़दूरों के मुद्दे संसद, विधानसभाओं, सरकार,पुलिस, श्रम विभाग, अदालतों आदि में सालों-साल पड़े रहते हैं, फ़ैसलों का इन्तज़ार करते-करते मज़दूर मर जाते हैं। लेकिन पूँजीपतियों की माँगें आनन-फानन में मान ली जाती हैं? क्या अब भी कोई शक है कि सारी चुनावबाज़ पार्टियाँ पूँजीपतियों की पार्टियाँ हैं और सरकार पूँजीपतियों के लूट-राज की मैनेजिंग कमेटी है। कहने को यह संसदीय लोकतंत्र है लेकिन असल में यह मज़दूरों और आम जनता के ऊपर पूँजीपतियों की तानाशाही का ही दूसरा नाम है।

पिछले 10-15 सालों में देश के अलग-अलग इलाकों में मज़दूर असन्तोष के विस्फोट की घटनाएँ लगातार हो रही हैं और बढ़ती जा रही हैं। इससे साफ पता चलता है कि देश के आम मेहनतकश जन पूँजी की गुलामी के आगे घुटने टेकने को तैयार नहीं हैं। यह एक अच्छी बात है। लेकिन मज़दूरों और आम मेहनतकश जनता को यह भी समझना होगा कि गुस्से का अराजक विस्फोट समस्या का समाधान नहीं है। इससे पूँजीवाद पर खरोंच भी नहीं आयेगी जो सारी समस्या की जड़ है। प्रेशर कुकर के सेफ़्टी वाल्व की तरह भड़ास निकाल देने के बाद जनता का आक्रोश भी ठण्डा पड़ जाता है और फिर सरकारी दमन झेलने के बाद उनमें निराशा भी बढ़ जाती है।

वास्तव में हड़ताल मज़दूर वर्ग का एक बहुत ताक़तवर हथियार है जिसका इस्तेमाल बहुत तैयारी और सूझबूझ के साथ किया जाना चाहिए। हड़ताल के नाम पर ऐसे तमाशों से कुछ हासिल नहीं होता बल्कि हमारे इस हथियार की धार ही कुन्द हो जाती है। मज़दूरों को ऐसे अनुष्ठानों

(पेज 15 पर जारी)

फैक्ट्री मालिकों की शह पर मज़दूरों के ख़िलाफ़ पुलिसिया आतंक राज्य कायम

बिगुल मज़दूर दस्ता के तपीश मैन्दोला तथा 6 आम नागरिकों को पुलिस ने दो दिन तक अवैध हिरासत में रखकर प्रताड़ित किया

27 फरवरी की शाम कोनोएडा पुलिस व एसओजी(स्पेशल ऑपरेशन्स ग्रुप) ने बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ता और 'मज़दूर बिगुल' के संवाददाता तपीश मैन्दोला को विजयनगर, गाज़ियाबाद से उठा लिया। उन पर आरोप लगाया गया कि उन्होंने 20-21 फरवरी को नोएडा में फूट पड़े मज़दूर असन्तोष के लिए पूँजीवादी शोषण-उत्पीड़न को ज़िम्मेदार बताते हुए मज़दूरों के बीच 16000 पर्चे बाँटे थे। दो बोलोरो गाड़ियों में सादी वर्दी में पहुँचे पुलिसवाले इससे पहले नवीन और राजू जिनका डीटीपी और प्रिन्टिंग का काम है, को भी अपने साथ राजनगर से उठा लाये थे। इन दोनों नागरिकों पर आरोप था कि इन्होंने वह तथाकथित "ख़तरनाक" पर्चा टाइप किया था और अपना सिम तपीश को इस्तेमाल करने के लिए दिया था। विजयनगर से करीब 10-12 किमी दूर स्थितनोएडा सेक्टर 58 थाना के रास्ते पूरे रास्ते वे तपीश को बुरी तरह मारते-पीटते रहे। थाने में बिना किसी क़ानूनी कार्रवाई के तीनों व्यक्तियों को जबरन बैठाये रखा गया और गाली-गलौच तथा धमकियाँ देना चलता रहा।

पुलिसिया अँधेरगर्दी की हद तो तब हो गयी जब अगले दिन सुबह पता चलने पर थाने में एसएचओ से मिलने गये नागरिकों के एक प्रतिनिधिमंडलके चार सदस्यों को भी पुलिस ने हवालात में बन्द कर दिया। इनमें बिगुल मजदूर दस्ता के प्रमोदकुमार,दिल्ली विश्वविद्यालय के शोधछात्र सनी सिंह और गजेंद्र तथा उनके एक नागरिक मित्र ज्ञानेंद्र ओझा शामिल थे।सारे नियम-क़ानूनों को ताक पर रखते हुए पुलिस ने इन सभी सात व्यक्तियों को 48 घण्टे से अधिक समय तक बिना मजिस्ट्रेट के सामने पेश किये लॉकअप में रखा। उन्हें अपने किसी भी परिचित या वकील को फोन करने तक से रोक दिया गया। विभिन्न जनसंगठनों द्वारा विरोध, पीयूडीआर और ह्यूमन राइट्स लॉ नेटवर्क जैसी संस्थाओं के हस्तक्षेप तथा इलाहाबाद हाईकोर्ट में याचिका दायर करने के बाद, तीसरे दिन 1 मार्च की रात 8 बजे के बाद उन्हें सिटी मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया गया और झूठमूठ की हल्की धाराओं में गिरफ़्तारी दिखाकर ज़मानत पर रिहा कर दिया गया।

इन दो-तीन दिनों के घटनाक्रम ने एक बार फिर यह दिखा दिया कि सरकारी मशीनरी से लेकर पूँजीवादी मीडिया तक कितनी नंगई के साथ धन्नासेठों के पाले में खड़े हैं।इस दौरान पुलिस ने मीडिया के माध्यम से ऐसा माहौल बनाया कि बिगुल मज़दूर दस्ता द्वारा गुलाबी पर्चे के वितरण के बाद पूरे नोएडा, ग्रेटर नोएडा के पूँजीपतियों में दहशत पैदा हो गयी है। कोतवाल ने तपीश को ओरियण्ट क्राफ्ट कम्पनी का एक शिकायती पत्र दिखाया जिसमें लिखा था कि बिगुल मज़दूर दस्ता नाम का संगठन मज़दूरों के बीच पर्चे बाँट रहा है जिससे कम्पनियों में डर का माहौल व्याप्त है। कोतवाल ने यह भी बताया कि हमें ढेरों ऐसी शिकायती चिट्ठियाँ मिली हैं और ढेरों फोन आये हैं। उसने यह भी बताया कि बहुत सी कम्पनियों ने अपने शिकायती पत्र केन्द्र व राज्य सरकार को फैक्स किये है। फैक्टरी मालिकों के दबाव में सरकार ने आसपास के ज़िलों से पुलिस बल बुलवा लिया था और 28 फरवरी से 4 मार्च तक नोएडा को पुलिस छावनी में तब्दील कर दिया था। बाद में पता चला कि कम्पनी वालों ने भी पाँच दिनों के लिए अपने यहाँ गुण्डे तैनात कराये थे।

'बिगुल मजदूर दस्ता' ने 23 फरवरी से नोएडा के विभिन्न इलाकों में नुक्कड़ सभाएँ करके पर्चे बाँटे थे जिसमें कहा गया है कि 20-21फरवरी की हड़ताल के दौरानहुई हिंसा और तोडफ़ोड़ की घटनाएँ नोएडा के दसियों लाख मजदूरों में व्याप्त गुस्से औरहताशा की परिचायक हैं, जिन्हें उनके बुनियादी अधिकार तक नहीं दिये जा रहे हैं। पर्चे मेंकहा गया है कि गुस्से का अराजक विस्फोट समस्या का समाधान नहीं है और मजदूरों कोचाहिए कि वे खुद को क्रान्तिकारी यूनियनों और राजनीतिक संगठनों में संगठित करें ताकि वे पूँजीवादी शोषण और शोषकों की मैनेजिंग कमेटी की तरह काम करने वाली सरकारों केख़िलाफ़ संगठित संघर्ष कर सकें। इसमें कुछ भी ग़ैरक़ानूनी नहीं था मगर नोएडा के कारख़ाना मालिकों और उनके इशारे पर काम करने वालीपुलिस को भड़काने के लिए यह काफ़ी था।

– बिगुल संवाददाता

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधीपुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006